मङ्गल प्रभावना

भाग: 2

प्रकाशक:
मङ्गल
विद्यापीठ
तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-२०४२१६ (अलीगढ़) उत्तरप्रदेश

ॐ

॥ नमः श्री सिद्धेभ्यः ॥

मंगल प्रभावना

(द्वितीय भाग)

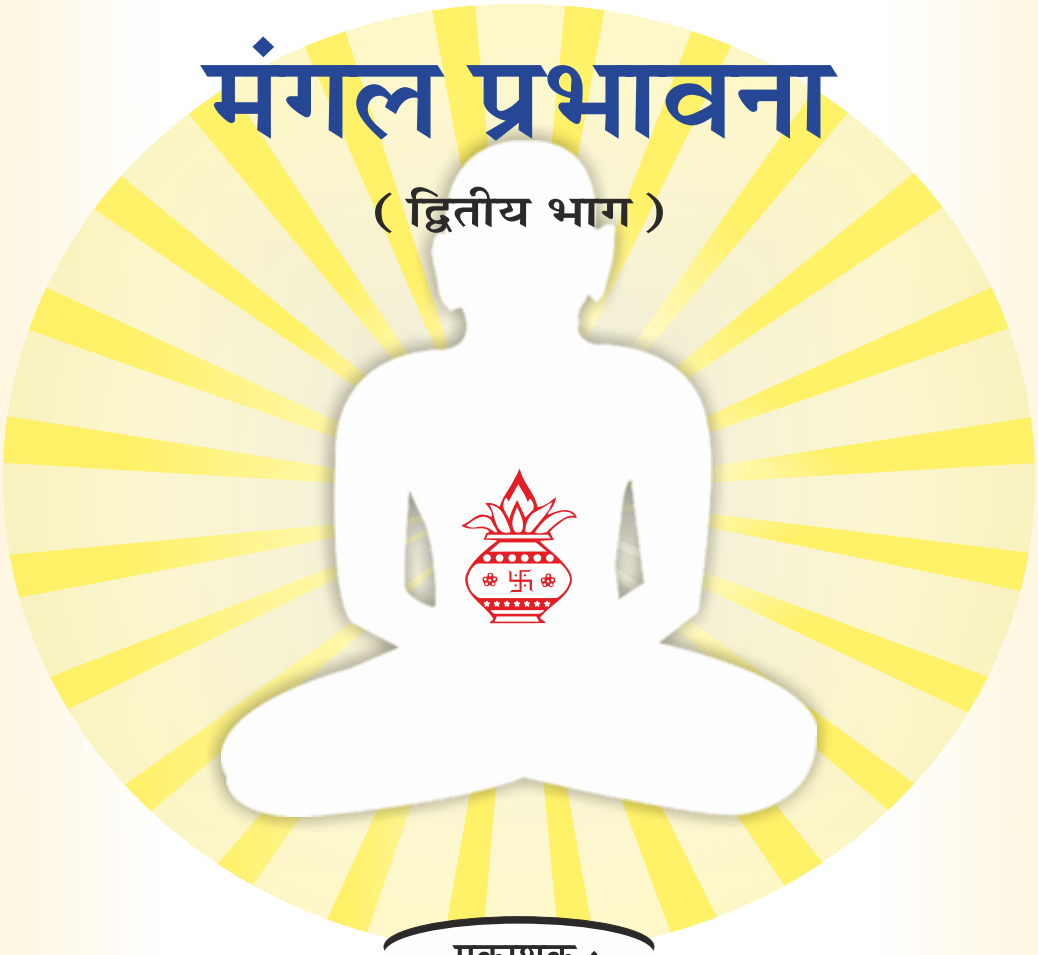

प्रकाशक :

मङ्गल विद्यापीठ

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सासनी - 204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

mob. : 91-8191900042, e-mail : mangalvidyapeeth@gmail.com

हमारे जीवनशिल्पी
धर्मपिता
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के कर-कमलों में
सविनय समर्पित!

हम हैं आपके,
नन्हें-मुन्नें ज्ञायक

प्रस्तावना

जैनदर्शन में तीर्थंकर, धर्म के संस्थापक नहीं होते, वे तो प्रवर्तक होते हैं, प्रचारक होते हैं।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर, शासननायक भगवान महावीर तक यह प्रवाह निरंतर चलता रहा। महावीर भगवान के निर्वाण होने के पश्चात् कुछ केवलियों और श्रुतकेवलियों ने इसी शृंखला को आगे बढ़ाया। विशेष ज्ञानियों का अभाव होने पर, मुनि परंपरा में यह विकल्प हुआ कि पंचम काल के अंतपर्यंत यदि जिनशासन को सुरक्षित करना है, तो सत्यमार्ग को जन-जन तक पहुँचाना होगा और इसके लिए जिनागम को लिपिबद्ध करना होगा। इसीलिए पुष्पदन्ताचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य आदि वीतरागी महर्षियों ने समय-समय पर वीतरागता के पोषक ग्रन्थों के लेखन का दुरूह कार्य किया।

काल के ओघ से जब यह वाणी, मंदबुद्धियों को समझने में दुर्गम हुई, तब उन ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी गयीं। वीतरागी संतों का भी विरह-सा होता देखकर, कविवर पण्डित बनारसीदासजी, आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी जैसे समर्थ विद्वानों ने उन टीकाओं का सरलीकरण किया। इसे भी सरल-सुगम करने हेतु आज के परिप्रेक्ष्य में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने सरलतम शब्दों में 45 वर्षों तक लगातार अमृतवर्षा की, जिससे प्रेरित होकर आज हजारों विद्वानों की सृष्टि हुई। हमारे ऊपर इन सबके अनंत उपकार हैं।

मङ्गल विद्यापीठ को यह विकल्प आया कि विद्वानों का योग सबको हो, यह जरूरी नहीं है। आज विषयों की अन्धी भाग-दौड़ के इस काल में समय की अनुकूलता मिलना दुर्लभ है। बीमारी आदि से ग्रस्त होने के कारण भी साधारणजन शास्त्र-सभाओं में जाकर, स्वाध्याय का लाभ नहीं ले सकते। किसी सुयोग से स्वाध्याय के समय की अनुकूलता भी हो तथा स्वास्थ्य भी ठीक हो, पर चारों अनुयोग के ज्ञाता विद्वान की प्राप्ति दुर्लभ है।

मङ्गल विद्यापीठ ने निर्णय किया कि ऐसा कोई सर्वजनहिताय उपक्रम

प्रारम्भ किया जाए; जिसमें लघु वय से ही मुमुक्षुता को योग्य पोषण मिलता रहे। देश -विदेश के किसी भी कोने में बैठकर, कोई भी उपासक, समस्त विषयों का सांगोपांग अध्ययन कर सके और उसकी समय-समय पर परीक्षा भी होती रहे। परीक्षा के लिए लिखित या On-Line का भी विकल्प रहे। साथ-साथ समय-समय पर श्रोताओं की जिज्ञासानुसार, नियमित अथवा प्रासंगिक कक्षाओं का Video Conference द्वारा भी आयोजन हो।

मङ्गल विद्यापीठ का यह भी भाव है कि एक **'मङ्गल जिज्ञासा'** उपक्रम चले, जिसमें समय-समय पर श्रोताओं से प्रश्न पूछे जाएँ और उत्तरदाताओं को पुरस्कृत भी किया जाए। साथ ही एक **'मङ्गल समाधान'** उपक्रम चले, जिसमें श्रोताओं की जिज्ञासाओं का तत्काल समाधान मिलने का यह केन्द्रबिंदु बने, जिसमें किसी भी अनुयोग की शंकाओं का निराकरण, आगम तथा युक्ति से हमारी विद्वत् मंडली के सदस्यों द्वारा किया जाए। हम चाहते हैं कि ज्ञान के प्रचार-प्रसार के अभियान के इस यज्ञ में आप भी हमारे सहभागी बनें।

इन भागों को बनाने में हमने पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर आदि संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का सहयोग लिया है। हम उसके लिए सभी के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
1	महावीराष्टक स्तोत्र	1
2	सम्यग्दर्शन	4
3	ज्ञानी श्रावक (पंचम गुणस्थानवर्ती) के बारह व्रत	8
4	कालचक्र	13
5	मुक्ति का मार्ग	19
6	शलाकापुरुष	24
7	अहिंसा परमोधर्मः	26
8	इतिहास के आलोक में जैनशासन का प्रभुत्व	28
9	स्वरूपाचरण चारित्र	33
10	सल्लेखना	38
11	समाधिमरण पाठ	42

पाठ 1

महावीराष्टक स्तोत्र

(शिखरिणी छंद)

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचिताः,
समं भान्ति ध्रौव्यव्ययजनिलसन्तोऽन्तरहिताः।
जगत्साक्षी मार्गप्रकटनपरो भानुरिव यो,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥1॥

अताम्रं यच्चक्षुः कमलयुगलं स्पन्दरहितं,
जनान्कोपापायं प्रकटयति वाभ्यन्तरमपि॥
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वातिविमला,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥2॥

नमन्नाकेन्द्रालीमुकुटमणिभाजालजटिलं,
लसत्पादाम्भोजद्वयमिह यदीयं तनुभृताम्।
भवज्ज्वालाशान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥3॥

यदर्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह,
क्षणादासीत्स्वर्गी गुणगणसमृद्धः सुखनिधिः।
लभंते सद्भक्ताः शिवसुखसमाजं किमुतदा,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥4॥

कनत्स्वर्णाभासोऽप्यपगततनुर्ज्ञाननिवहो,
विचित्रात्माप्येको नृपतिवरसिद्धार्थतनयः।
अजन्मापि श्रीमान् विगतभव-रागोद्भुतगतिः,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥5॥

यदीया वाग्गंगा विविधनयकल्लोलविमला,
वृहज्ज्ञानांभोभिर्जगति जनतां या स्नपयति।
इदानीमप्येषा बुधजनमरालैः परिचिता,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥6॥

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभटः,
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः।
स्फुरन्नित्यानन्दप्रशमपदराज्याय स जिनः,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥7॥

महामोहातंकप्रशमनपराकस्मिकभिषग्,
निरापेक्षो बंधुर्विदितमहिमा मंगलकरः।
शरण्यः साधूनां भवभयभृतामुत्तमगुणो,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥8॥

महावीराष्टकं स्तोत्रं भक्त्या भागेन्दुना कृतम्।
यः पठेच्छृणुयाच्चापि स याति परमां गतिम् ॥9॥

(पण्डितप्रवर श्री भागचन्दजी)

महावीराष्टक स्तोत्र

सामान्यार्थ—

जिस प्रकार सम्मुख पदार्थ, दर्पण में झलकते हैं; उसी प्रकार जिनके केवलज्ञान में समस्त जीव -अजीवरूप अनन्त पदार्थ, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-सहित, युगपत् प्रतिभासित होते रहते हैं तथा जिस प्रकार सूर्य, लौकिक मार्गों को प्रकाशित करता है; उसी प्रकार मोक्षमार्ग को प्रकाशित करनेवाले जो जगत के ज्ञाता-दृष्टा हैं, वे भगवान महावीर, मेरे नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे दर्शन दें ॥1॥

स्पन्द (टिमकार) और लालिमा-रहित जिनके दोनों नेत्र-कमल, मनुष्यों को बाह्य और अभ्यन्तर क्रोधादि विकारों का अभाव प्रगट कर रहे हैं; जिनकी मुद्रा स्पष्टरूप से पूर्ण शान्त और अत्यन्त विमल है, वे भगवान महावीर स्वामी, मेरे नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे दर्शन दें ॥2॥

नम्रीभूत इन्द्रों के समूह के मुकुटों की मणियों के प्रभाजाल से जटिल (मिश्रित) जिनके कान्तिमान दोनों चरणकमल, स्मरण करनेमात्र से ही, शरीरधारियों की सांसारिक दु:ख-ज्वालाओं का, जल के समान शमन कर देते हैं; वे भगवान महावीर स्वामी, मेरे नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे दर्शन दें ॥3 ॥

जब पूजा करने के भावमात्र से प्रसन्नचित्त मेंढ़क ने क्षण भर में गुण-गणों से समृद्ध सुख की निधि स्वर्ग-सम्पदा को प्राप्त कर लिया, तब यदि उनके सद्भक्त मुक्ति-सुख को प्राप्त कर लें, तो कौन-सा आश्चर्य है अर्थात् उनके सद्भक्त अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त करेंगे। वे भगवान महावीर स्वामी, मेरे नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे दर्शन दें ॥4 ॥

जो अन्तरंग दृष्टि से ज्ञानशरीरी (केवलज्ञान के पुंज) एवं बहिरंग दृष्टि से तप्त स्वर्ण के समान आभामय शरीरवान होने पर भी, शरीर से रहित हैं; अनेक (सभी) ज्ञेय, उनके ज्ञान में झलकते हैं; अत: विचित्र (अनेक) होते हुए भी, एक (अखण्ड) हैं; महाराजा सिद्धार्थ के पुत्र होते हुए भी अजन्मा है; और केवलज्ञान तथा समवसरणादि लक्ष्मी से युक्त होने पर भी संसार के राग से रहित हैं। इस प्रकार के आश्चर्यों के निधान, वे भगवान महावीरस्वामी, मेरे नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे दर्शन दें ॥5 ॥

जिनकी वाणीरूपी गंगा, नाना प्रकार के नयरूपी कल्लोलों के कारण, निर्मल है और अगाध ज्ञानरूपी जल से, जगत की जनता को स्नान कराती रहती है तथा इस समय भी विद्वज्जनरूपी हंसों के द्वारा परिचित है, वे भगवान महावीरस्वामी मेरे नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे दर्शन दें ॥6 ॥

अनिर्वार है वेग जिसका और जिसने तीनों लोकों को जीत लिया है, ऐसे कामरूपी सुभट को, जिन्होंने स्वयं आत्मबल से कुमारावस्था में ही जीत लिया है; परिणामस्वरूप जिनके अनन्त-शक्ति का साम्राज्य एवं शाश्वत-सुख स्फुरायमान हो रहा है, वे भगवान महावीरस्वामी मेरे नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे दर्शन दें ॥7 ॥

जो महा-मोहरूपी रोग को शान्त करने के लिए निरपेक्ष वैद्य हैं, जो जीवमात्र के नि:स्वार्थ बन्धु हैं, जिनकी महिमा से सारा लोक परिचित है, जो महामंगल के करनेवाले हैं तथा भव-भय से भयभीत साधुओं को जो शरण हैं, वे उत्तम गुणों के धारी भगवान महावीरस्वामी, मेरे नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे दर्शन दें ॥8 ॥

जो कविवर भागचन्द द्वारा भक्तिपूर्वक रचित इस महावीराष्टक स्तोत्र का पाठ करता है व सुनता है, वह परमगति (मोक्ष) को पाता है।

प्रश्न-

1. कोई एक पद्य, जो आपको रुचिकर हो, अर्थसहित लिखिए।

पाठ 2

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन, सकल धर्म का मूल तथा मोक्षपथ का प्रथम चरण है। इसी सम्यग्दर्शन के बल से, ज्ञान और चारित्र सम्यक् हो जाते हैं; अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का हमें प्रतिपल उद्यम करना चाहिए। विद्वानों ने सम्यग्दर्शन-रहित जीवन को धिक्कारा है। कहा भी है - 'धिक-धिक जीवन, समकित बिना....।' कुन्दकुन्दाचार्य ने सम्यग्दर्शन-विहीन जीव को, चलता-फिरता शव कहा है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पूर्व, हम सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझेंगे। जिनवाणी में वस्तुस्वरूप का समग्र वर्णन होने पर भी, अज्ञानी न तो निश्चय-व्यवहार की सन्धि समझता है और न चारों अनुयोगों की कथन-पद्धति ही। यहाँ उसी का खुलासा किया जा रहा है।

जिनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार का है। इन अनुयोगों में विभिन्न दृष्टिकोणों से सम्यग्दर्शन के स्वरूप की चर्चा की गई है। **प्रथमानुयोग और चरणानुयोग में** सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्रायः इस प्रकार बताया गया है कि[1] परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु का तीन मूढ़ताओं और आठ मदों से रहित तथा आठ अंगों से सहित श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है।

वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी व्यक्ति ही देव कहलाते हैं। जिनागम में अरहन्त और सिद्धपरमेष्ठी की देवसंज्ञा है। वीतराग, सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से अवतीर्ण तथा गणधरादि आचार्यों के द्वारा गुम्फित (रचित) आगम, शास्त्र कहलाता है और विषयों की आशा से रहित, निर्ग्रन्थ-निष्परिग्रह एवं ज्ञानध्यान और तप में लीन साधु, गुरु कहलाते हैं।

हमारा प्रयोजन मोक्ष है; उसकी प्राप्ति इन्हीं देव, शास्त्र, गुरु के आश्रय (निमित्त) से हो सकती है; अतः इनकी दृढ़ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के वशीभूत होकर, कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं की प्रतीति नहीं करना चाहिए।

द्रव्यानुयोग में प्रमुखता से द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - इन सात तत्त्वों एवं पुण्य-पापसहित नौ पदार्थों की चर्चा आती है; अतः द्रव्यानुयोग में सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान[2] बताया गया है। तत्त्वरूप अर्थ अथवा तत्त्व-युक्त अर्थ - अपने

1. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
   त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 4॥
2. **तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।** तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 1, सूत्र 3

–अपने वास्तविक स्वरूप से सहित जीव, अजीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है।

इसी **द्रव्यानुयोग** में स्व-पर के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है; क्योंकि आस्रवादि तत्त्व, स्व-जीव और पर-कर्मरूप अजीव के संयोग से होनेवाले पर्यायात्मक तत्त्व हैं; अतः स्व-पर में ही गर्भित हो जाते हैं। अथवा इसी द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत **अध्यात्मग्रन्थों** में परद्रव्यों से भिन्न, [1]आत्मद्रव्य की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है क्योंकि प्रयोजनभूत तत्त्व तो स्वकीय आत्मद्रव्य ही है। स्व का निश्चय होने पर, पर स्वतः छूट जाता है।

अथवा परमार्थ[2] रूप से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं। यहाँ विषय और विषयी में अभेद मानकर, जीवादि पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है अर्थात् इन नौ पदार्थों का परमार्थरूप से श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है।

यह भी परमार्थ (निश्चय) सम्यग्दर्शन का लक्षण है क्योंकि यहाँ सात तत्त्वों (नौ पदार्थों) का अभेद श्रद्धान दर्शाया गया है। जहाँ सात तत्त्वों का भेदरूप श्रद्धान का कथन हो, वहाँ व्यवहार –सम्यग्दर्शन का कथन समझना चाहिए।

सात तत्त्वों में जीव और अजीव का जो संयोग है, वह संसार है तथा आस्रव और बन्ध, उसके कारण हैं। जीव और अजीव का जो वियोग / पृथग्भाव है, वह मोक्ष है तथा संवर और निर्जरा उसके कारण हैं। जैसे रोगी मनुष्य को रोग, उसके कारण, रोगमुक्ति और उसके कारण – चारों का जानना आवश्यक है; उसी प्रकार इस जीव को संसार, उसके कारण, उससे मुक्ति और उसके कारण – चारों का जानना आवश्यक है।

करणानुयोग में, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान –माया-लोभ—इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होनेवाली श्रद्धागुण की स्वाभाविक परिणति को सम्यग्दर्शन कहा है। करणानुयोग से, इस सम्यग्दर्शन के होने पर चरणानुयोग, प्रथमानुयोग और द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन नियम से हो जाता है; परन्तु शेष अनुयोगों के सम्यग्दर्शन होने पर, करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है।

मिथ्यात्वप्रकृति के अवान्तर भेद, असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं। एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय में सातवें नरक की आयु का बन्ध होता है और एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय में नौवें ग्रैवेयिक की आयु का बन्ध होता है। एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय में इस जीव के मुनिहत्या का भाव होता है और एक

---

2. **'दर्शनमात्मविनिश्चितिः'** – पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ॥216॥
3. **भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवाय पुण्ण पावं च।**
   आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥13॥ समयसार

मिथ्यात्वप्रकृति के उदय में स्वयं मुनिव्रत धारण कर अट्ठाईस मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है। एक मिथ्यात्व के उदय में कृष्णलेश्या होती है और एक मिथ्यात्व के उदय में शुक्ललेश्या होती है।

जिस समय मिथ्यात्वप्रकृति का मन्द, मन्दतर उदय चलता है, उस समय इस जीव के चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के अनुसार सम्यग्दर्शन हो गया है – ऐसा जान पड़ता है; परन्तु करणानुयोग के अनुसार वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। एक भी प्रकृति का उसके संवर नहीं होता है। बन्ध और मोक्ष के प्रकरण में करणानुयोग का सम्यग्दर्शन ही अपेक्षित रहता है, अन्य अनुयोगों का नहीं।

यद्यपि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन की महिमा सर्वोपरि है तथापि उसे पुरुषार्थपूर्वक-बुद्धिपूर्वक प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस जीव का पुरुषार्थ चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए ही अग्रसर होता है अर्थात् यह बुद्धिपूर्वक परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की शरण लेता है, उनकी श्रद्धा करता है और आगम का अभ्यास कर, तत्त्वों का निर्णय करता है। इन सबके होते हुए अनुकूलता होने पर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन स्वतः प्राप्त हो जाता है और उसके प्राप्त होते ही यह, संवर और निर्जरा को प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दर्शन के विविध लक्षणों का समन्वय –

उपर्युक्त विवेचन से सम्यग्दर्शन के निम्नलिखित पाँच लक्षण सामने आते हैं :-

(1) सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति।

(2) तत्त्वार्थ (सात तत्त्वों का) श्रद्धान।

(3) स्व-पर का श्रद्धान।

(4) निज आत्मा का श्रद्धान।

(5) सप्त प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से प्राप्त श्रद्धादिगुण की निर्मल परिणति।

इन लक्षणों में पाँचवाँ लक्षण साध्य है और शेष चार उसके साधन हैं।

जहाँ शेष चार लक्षणों को सम्यग्दर्शन कहा है, वहाँ कारण में कार्य का उपचार समझना चाहिए। जैसे – अरहन्तदेव, तत्प्रणीत शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरु की श्रद्धा होने से व कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु की श्रद्धा दूर होने से, गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है, इस अपेक्षा से ही इसे सम्यग्दर्शन कहा है; यह लक्षण सम्यग्दर्शन का पूर्ण लक्षण पूर्णतः नहीं है; क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहारधर्म के धारक मिथ्यादृष्टि जीवों के भी, अरहन्तादि का श्रद्धान होता है।

जिस प्रकार अणुव्रत-महाव्रत धारण करने पर देशचारित्र, सकलचारित्र होता भी है और नहीं भी होता है; परन्तु अणुव्रत और महाव्रत धारण किए बिना, देशचारित्र-सकलचारित्र कदापि नहीं होता है;

इसलिए अणुव्रत-महाव्रत को अन्वयरूप कारण जानकर, कारण में कार्य का उपचार करके, इन्हें देशचारित्र-सकलचारित्र कहा है।

इसी प्रकार अरहन्त-देवादि का श्रद्धान होने पर, सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है; परन्तु अरहन्तादि की श्रद्धा के बिना, सम्यग्दर्शन कदापि नहीं होता; इसलिए अन्वयव्याप्ति के अनुसार, कारण में कार्य का उपचार करके इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

स्थूलरूप से विचारा जाए तो, तत्त्वार्थश्रद्धानरूप लक्षण, 'शरीर भिन्न है तथा आत्मा भिन्न है', ऐसा स्व-पर का भेदज्ञानरूप लक्षण तथा आत्मश्रद्धानरूप लक्षण, द्रव्यलिंगी मुनि के भी पाया जाता है और वह इन लक्षणों का इतना सूक्ष्म निरूपण करता है कि उसके श्रोता को भी कदाचित् सम्यग्दर्शन हो सकता है, पर वह स्वयं मिथ्यादृष्टि ही बना रहता है। उसकी सूक्ष्म भूल प्रत्यक्ष ज्ञानी ही जानते हैं; छद्मस्थ के ज्ञानगोचर नहीं है।

इनके होते हुए सम्यक्त्व का घात करनेवाली सात प्रकृतियों का उपशमादि होकर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति, तत्त्वार्थश्रद्धान, स्वपरश्रद्धान और आत्म-श्रद्धान - ये चारों लक्षण, एक-दूसरे के बाधक नहीं हैं; क्योंकि एक के होने पर, दूसरे लक्षण स्वयं प्रकट हो जाते हैं। आचार्यों ने पात्र की योग्यता देखकर, विभिन्न शैलियों से वर्णनमात्र किया है। जैसे - आचरणप्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा, देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति को; ज्ञानप्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा, तत्त्वार्थश्रद्धान, स्वपरश्रद्धान तथा आत्मश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।

अपनी योग्यता के अनुसार चारों शैलियों को अपनाया जा सकता है। इन चारों शैलियों में भी यदि मुख्यता और अमुख्यता की अपेक्षा चर्चा की जाए, तो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप ज्ञानप्रधान शैली, मुख्य जान पड़ती है; क्योंकि उसके होने पर ही शेष तीन शैलियों को बल मिलता है।

आहार्येभ्यः स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्यः
शस्त्र-ग्राही भवति सततं वैरिणा यश्च शक्यः।
सर्वांगेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषां
तत्किं भूषा-वसन-कुसुमैः किं च शस्त्रैरुदस्त्रैः ॥19॥

अर्थात् - जो स्वभाव से असुंदर (कुरूप) है, वे ही परद्रव्य को ग्रहण करने की चाह रखते हैं। जो बैरियों से पराजित होने की संभावना रखते हैं, वे ही अपने पास शस्त्र ग्रहण करते हैं। परन्तु हे प्रभु! आप तो सर्वांग सुंदर हो तथा आप अजेय हो, तीन लोक के नाथ हो; अतः आपको आभूषण, वस्त्र, फूल तथा शस्त्र-अस्त्र की क्या आवश्यकता है? अर्थात् आवश्यकता नहीं है। **(एकीभाव स्तोत्र)**

पाठ 3

ज्ञानी श्रावक (पंचम गुणस्थानवर्ती) के बारह व्रत

जिसे यथार्थ सम्यग्दर्शन प्रकट हो गया है, उसे ही ज्ञानी कहते हैं। ऐसा ज्ञानी जीव जब अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय के अभाव में अपने में देशचारित्रस्वरूप आत्मशुद्धि प्रकट करता है, तब वह व्रती श्रावक कहलाता है।

जो आत्मशुद्धि प्रकट हुई, उसे निश्चयव्रत कहते हैं और उक्त आत्मशुद्धि के सद्भाव में जो हिंसादि पंच पापों के त्याग तथा अहिंसादि पंचाणुव्रत आदि के धारण करनेरूप शुभभाव होते हैं, उन्हें व्यवहारव्रत कहते हैं। इस प्रकार के शुभभाव, ज्ञानी श्रावक के सहजरूप में प्रकट होते हैं।

ये व्रत बारह प्रकार के होते हैं। उनमें हिंसादि पाँच पापों के एकदेश त्यागरूप पाँच अणुव्रत होते हैं। इन अणुव्रतों के रक्षण और उनमें अभिवृद्धिरूप तीन गुणव्रत तथा महाव्रतों के अभ्यासरूप चार शिक्षाव्रत होते हैं।

पाँच अणुव्रत

1. अहिंसाणुव्रत – हिंसाभाव के स्थूलरूप में त्याग को अहिंसाणुव्रत कहते हैं। इसे समझने के लिए पहले हिंसा को समझना आवश्यक है। कषायभाव के उत्पन्न होने पर आत्मा के उपयोग की शुद्धता (शुद्धोपयोग) का घात होना, भावहिंसा है और उक्त कषायभाव निमित्त है जिसमें – ऐसे अपने और पराये द्रव्यप्राणों का घात होना, द्रव्यहिंसा है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ में लिखा है*–

'आत्मा में रागादि दोषों का उत्पन्न होना ही हिंसा है तथा उनका उत्पन्न न होना ही अहिंसा है।'

यदि कोई व्यक्ति, राग-द्वेषादि भाव न करके, योग्यतम आचरण करे तथा सावधानी रखने पर भी यदि किसी जीव का घात हो जाए, तो वह हिंसा नहीं है। इसके विपरीत कोई जीव अन्तरंग में कषायभाव रखे तथा बाह्य में भी असावधान रहे, पर उसके निमित्त से किसी जीव का घात न भी हुआ हो, तो भी वह हिंसक है। सारांश यह है कि हिंसा और अहिंसा का निर्णय प्राणी के घात या रक्षा से नहीं; रागादि भावों की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति से है।

* अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति। तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥44॥

निमित्तभेद से हिंसा चार प्रकार की होती है :-

(1) संकल्पीहिंसा, (2) उद्योगीहिंसा, (3) आरम्भीहिंसा, (4) विरोधीहिंसा।

केवल निर्दयपरिणाम ही हेतु हैं जिसमें - ऐसे संकल्पपूर्वक किया गया प्राणघात ही संकल्पीहिंसा है।

व्यापारादि कार्यों में तथा गृहस्थी के आरम्भादि कार्यों में सावधानी वर्तते हुए भी जो हिंसा हो जाती है, वह उद्योगी और आरम्भीहिंसा है।

अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन आदि पर किये गये आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा, विरोधीहिंसा है।

व्रती श्रावक, उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में से संकल्पीहिंसा का तो सर्वथा त्यागी होता है अर्थात् सहजरूप से उसके इस प्रकार के भाव ही उत्पन्न नहीं होते। अन्य तीनों प्रकार की हिंसा से भी यथासाध्य बचने का प्रयत्न रखता है। हिंसाभाव का एकदेश त्याग होने से यह व्रत, अहिंसाणुव्रत कहलाता है।

2. सत्याणुव्रत - प्रमाद के योग से असत् वचन बोलना, असत्य है; इसका एकदेश त्याग ही सत्याणुव्रत है। असत्य चार प्रकार का होता है:-

(1) सत् का अपलाप, (2) असत् का उद्भावन, (3) अन्यथा प्ररूपण, (4) गर्हित वचन।

विद्यमान पदार्थ को अविद्यमान कहना, सत् का अपलाप है।

अविद्यमान को विद्यमान कहना, असत् का उद्भावन है।

कुछ का कुछ कहना अर्थात् वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा न कहकर, अन्यथा कहना, अन्यथा प्ररूपण है। जैसे - हिंसा में धर्म बताना।

निन्दनीय, कलहकारक, पीड़ाकारक, शास्त्रविरुद्ध, हिंसापोषक, परापवादकारक आदि वचनों को गर्हित वचन कहते हैं।

3. अचौर्याणुव्रत - जिस वस्तु में लेने-देने का व्यवहार है, ऐसी वस्तु को प्रमाद के योग से उसके स्वामी की अनुमति बिना ग्रहण करना, चोरी है। ऐसी चोरी का त्याग, अचौर्यव्रत है। चोरी का त्यागी होने पर भी गृहस्थ कूप, नदी आदि से जल एवं खदान से मिट्टी आदि वस्तुओं को बिना पूछे भी ग्रहण कर लेता है; अत: एकदेश चोरी का त्यागी होने से अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

4. ब्रह्मचर्याणुव्रत - स्त्री-सेवन का पूर्णतया त्याग, ब्रह्मचर्यव्रत है। जो गृहस्थ इसे धारण करने में असमर्थ हैं, वे स्वस्त्री में सन्तोष करते हैं और परस्त्रीरमण के भाव को सर्वथा त्याग देते हैं, उनका यह व्रत एकदेशरूप होने से ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।

5. परिग्रहपरिमाणव्रत – अपने से भिन्न पर-पदार्थों में ममत्वबुद्धि ही परिग्रह है। यह अन्तरंग और बहिरंग के भेद से, दो प्रकार का होता है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नव नोकषाय – ये चौदह अन्तरंग परिग्रह के भेद हैं तथा जमीन-मकान, सोना-चाँदी, धन-धान्य, नौकर-नौकरानी, बर्तन आदि अन्य वस्तुएँ बाह्यपरिग्रह हैं। उक्त परिग्रहों में से गृहस्थ श्रावक के मिथ्यात्व नामक परिग्रह का तो पूर्णरूप से त्याग हो जाता है तथा बाकी अन्तरंग परिग्रहों का कषायांश के सद्भाव के कारण, एकदेश त्याग होता है तथा वह बाह्यपरिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेता है। इस व्रत को परिग्रहपरिमाणव्रत कहते हैं।

गुणव्रत

दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत – ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं।

1. दिग्व्रत – कषायांश कम हो जाने से गृहस्थ दशों दिशाओं में प्रसिद्ध स्थानों के आधार पर अपने आवागमन की सीमा निश्चित कर लेता है और जीवनपर्यन्त उसका उल्लंघन नहीं करता, इसे दिग्व्रत कहते हैं।

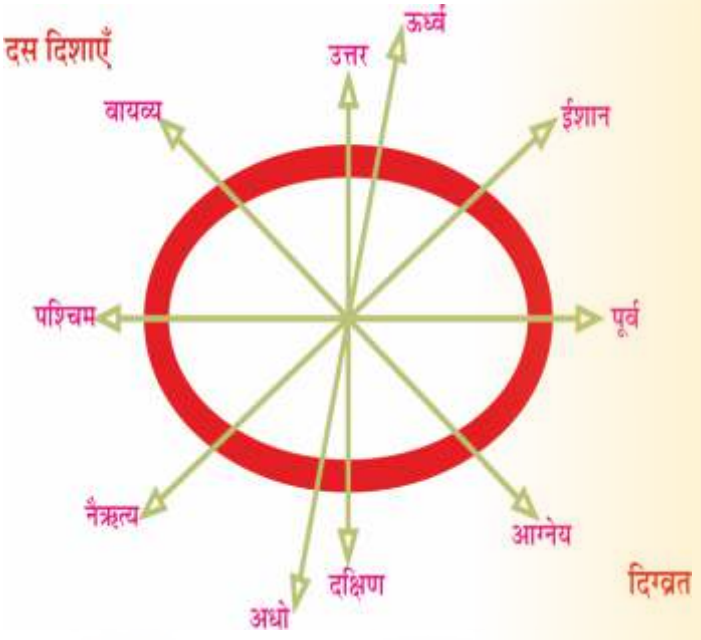

2. देशव्रत – दिग्व्रत की बाँधी हुई विशाल सीमा को घड़ी, घण्टा, दिन, सप्ताह, माह आदि काल की मर्यादापूर्वक और भी सीमित (कम) कर लेना, देशव्रत है।

3. अनर्थदण्डव्रत – बिना प्रयोजन हिंसादि पापों में प्रवृत्ति करना या उसरूप भाव करना, अनर्थदण्ड है और उसके त्याग को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। व्रती श्रावक बिना प्रयोजन जमीन खोदना, पानी ढोलना, अग्नि जलाना, वायु संचार करना, वनस्पति छेदन करना आदि कार्य नहीं करता अर्थात् त्रसहिंसा का तो वह त्यागी है ही, पर अप्रयोजनीय

(दु:श्रुति-अनर्थदण्डत्यागव्रत)

धन हानि

कृषि कार्य

स्थावरहिंसा का भी त्याग करता है तथा राग-द्वेषादि प्रवृत्तियों में भी उसकी वृत्ति नहीं रमती, वह इनसे विरक्त रहता है। इसी व्रत को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

प्रमादचर्या

हिंसा के उपकरण

शिक्षाव्रत

सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत और अतिथि-संविभागव्रत - ये चार शिक्षाव्रत हैं।

1. सामायिकव्रत - सम्पूर्ण द्रव्यों में राग-द्वेष के त्यागपूर्वक समताभाव का अवलम्बन करके, आत्मभाव की प्राप्ति करना ही सामायिक है। व्रती श्रावकों द्वारा प्रातः, दोपहर, सायं - कम से कम अन्तर्मुहूर्त, एकान्त स्थान में सामायिक करना, सामायिकव्रत है।

2. प्रोषधोपवासव्रत - कषाय, विषय और आहार का त्याग कर आत्मस्वभाव के समीप ठहरना, उपवास है। प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को सर्वारम्भ छोड़कर उपवास करना ही प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है।

यह तीन प्रकार से किया जाता है – उत्तम, मध्यम और जघन्य।

उत्तम – पर्व के एक दिन पूर्व व एक दिन बाद एकासनपूर्वक पर्व के दिन पूर्ण उपवास करना, उत्तम प्रोषधोपवास है।

मध्यम – केवल पर्व के दिन उपवास करना, मध्यम प्रोषधोपवास है।

जघन्य – पर्व के दिन केवल एकासन करना, जघन्य प्रोषधोपवास है।

3. भोगोपभोगपरिमाणव्रत – प्रयोजनभूत सीमित परिग्रह के भीतर भी कषाय कम करके भोग और उपभोग का परिमाण घटाना, भोगोपभोग-परिमाणव्रत है। पंचेन्द्रिय के विषयों में से जो एक बार भोगने में आ सकें, उन्हें भोग और बार-बार भोगने में आवें, उन्हें उपभोग कहते हैं।

4. अतिथिसंविभागव्रत – मुनि, व्रती-श्रावक और अव्रती-श्रावक – इन तीन प्रकार के पात्रों को अपने भोजनादि में से विभाग करके विधिपूर्वक दान देना, अतिथिसंविभागव्रत है।

निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक उक्त बारह व्रतों को निरतिचार धारण करनेवाला श्रावक ही व्रती श्रावक कहलाता है; क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के सच्चे व्रतादि होते ही नहीं हैं तथा निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव होने पर प्रकट होनेवाली आत्मशुद्धि के साथ सहज ही ज्ञानी श्रावक के उक्त व्रतादिरूप भाव होते हैं। आत्मज्ञान बिना जो व्रतादिरूप शुभभाव होते हैं, वे सच्चे व्रत नहीं हैं।

प्रश्न –

1. व्रती श्रावक किसे कहते हैं ? श्रावक के व्रत क्या हैं ? वे कितने प्रकार के होते हैं ? नाम सहित गिनाइए ?
2. अहिंसाणुव्रत और सत्याणुव्रत का विस्तार से विवेचन कीजिए ?
3. निम्नांकित में से किन्हीं तीन की परिभाषाएँ दीजिए :-
   हिंसा, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक शिक्षाव्रत, अचौर्याणुव्रत।
4. निम्नलिखित में परस्पर अन्तर बताइये :-
   (क) भोग और उपभोग; (ख) दिग्व्रत और देशव्रत;
   (ग) परिग्रहपरिमाणव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत।
5. 'ज्ञानी श्रावक के बारह व्रत' विषय पर अपनी भाषा में एक निबन्ध लिखिए ?

पाठ 4

कालचक्र

काल निरवधि है; उसकी कोई अवधि नहीं। उसका प्रवाह अनादि है और अनन्त रहेगा। चक्र की भाँति, काल निरन्तर घूमता रहता है; इसीलिए समय को कालचक्र कहा जाता है। कोई गोलाकार वृत्त की परिधि पर कितनी ही दूर चले, परन्तु उसे वृत्त के अन्तिम बिन्दु की प्राप्ति होना असम्भव है। कालचक्र, अमर्याद होने पर भी इसके छह विभाग हैं:- (1) सुखमासुखमा, (2) सुखमा, (3) सुखमादुःखमा, (4) दुःखमासुखमा (5) दुःखमा (6) दुःखमादुःखमा।

जैसे - चलती हुई गाड़ी के चक्र का प्रत्येक भाग नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे जाता-आता है, वैसे ही ये छह भाग भी क्रमवार सदा घूमते रहते हैं अर्थात् एक बार जगत सुख से दुःख की ओर जाता है तो दूसरी बार दुःख से सुख की ओर बढ़ता है। सुख से दुःख की ओर जाने को **अवसर्पिणी**काल या अवनतिकाल कहते हैं और दुःख से सुख की ओर जाने को **उत्सर्पिणी**काल या विकासकाल कहते हैं।

सर्प का मुख बड़ा होता है तथा पूँछ की तरफ का हिस्सा छोटा होता जाता है। इसी सर्प के आकार की कल्पना करके अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणीकाल के नाम की सार्थकता है।

एक अवसर्पिणीकाल की अवधि दस कोड़ाकोड़ीसागर है; इसमें मनुष्य तथा तिर्यंचों की आयु, शरीर का प्रमाण, बल, बुद्धि, सुख-सामग्री आदि घटती जाती है। एक उत्सर्पिणीकाल की अवधि भी दस कोड़ाकोड़ीसागर है। इसमें मनुष्य तथा तिर्यंचों की आयु, शरीर का प्रमाण, बल, बुद्धि, सुख-सामग्री आदि बढ़ती जाती है। इन दोनों कालों को मिलाकर एक **कल्पकाल** कहलाता है। यह बीस कोड़ाकोड़ीसागर का होता है। ज्ञातव्य है कि यह षट्कालपरावर्तन, मात्र भरत तथा ऐरावत क्षेत्र के आर्य खण्डों में ही होता है; अन्य सर्वक्षेत्र अवस्थित हैं; उनमें वृद्धि-ह्रास नहीं होता है।

अवसर्पिणी के प्रारंभिक और उत्सर्पिणी के आंतिक तीन कालों में भोगभूमि रहती है। इनकी सामान्य विशेषताएँ निम्न हैं-

1. भोगभूमि के जीवों का आहार तो होता है किन्तु निहार (मल-मूत्र) नहीं होता।
2. यहाँ के मनुष्य अक्षर, गणित, चित्र आदि 64 कलाओं में स्वभाव से ही निपुण होते हैं।
3. यहाँ विकलेन्द्रिय एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव नहीं होते हैं।

4. यहाँ दिन-रात का भेद नहीं होता एवं शीत, गर्मी की वेदना भी नहीं होती है।
5. यहाँ सुंदर-सुंदर नदियाँ, कमलों से भरी वापिकाएँ, रत्नों से भरी पृथ्वी एवं कोमल घास होती है।
6. यहाँ के मनुष्य एवं तिर्यंचों का वज्र-वृषभनाराचसंहनन एवं समचतुरस्र-संस्थान होता है।
7. युगल संतान (बेटा-बेटी) का जन्म होता है एवं इनके जन्म होते ही पिता को छींक आने से एवं माँ को जम्भाई आने से मरण हो जाता है।
8. मृत्यु के बाद, इनका शरीर कपूरवत् उड़ जाता है।
9. युगल संतान ही पति-पत्नी के रूप में रहते हैं, जिन्हें वे आपस में आर्य और आर्या कहकर पुकारते हैं।
10. यहाँ नपुंसकवेद नहीं होता है, मात्र स्त्री तथा पुरुषवेद होते हैं।
11. इन्हें भोगोपभोग सामग्री, कल्पवृक्षों से मिलती है।
12. यहाँ के मनुष्यों में 9000 हाथियों के बराबर बल पाया जाता है।

अब, इन छह कालों की संक्षिप्त विशेषताएँ अवसर्पिणी की मुख्यता से वर्णित हैं; उत्सर्पिणी में ऊँचाई आदि को इनसे विपरीत समझना चाहिए।

1. सुखमासुखमा काल की विशेषताएँ-

1. इस काल में सुख ही सुख होता है। यह भोगप्रधान काल है, इसे उत्कृष्ट भोगभूमि का काल कहते हैं।
2. इस काल में जन्मे युगल, 21 दिनों में पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं, जिसका क्रम इस प्रकार है। शैया पर अँगूठा चूसते हुए 3 दिन, उपवेशन (बैठना) 3 दिन, अस्थिर गमन 3 दिन, स्थिर गमन 3 दिन, कलागुण प्राप्ति 3 दिन, तारुण्य 3 दिन और सम्यक्गुण प्राप्ति की योग्यता 3 दिन। यहाँ के जीव 21 दिन के बाद सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं।
3. तीन दिन के बाद चौथे दिन हर्र के बराबर आहार लेते हैं।
4. इस काल के प्रारंभ में मनुष्यों की ऊँचाई 6000 धनुष एवं आयु 3 पल्य की होती है एवं अंत में घटते-घटते ऊँचाई 4000 धनुष एवं आयु 2 पल्य रह जाती है।
5. यह काल 4 कोड़ाकोड़ीसागर का होता है। इसमें शरीर का वर्ण, स्वर्ण के समान होता है।

2. सुखमा काल की विशेषताएँ -

1. प्रथम काल की अपेक्षा सुख में हीनता होती जाती है। इसे मध्यम भोगभूमि का काल कहा जाता है।
2. इस काल में जन्मे युगल, 35 दिनों में पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे - प्रथमकाल में सात प्रकार की वृद्धियों में 3-3 दिन लगते हैं; तो यहाँ 5-5 दिन लगते हैं।

3. दो दिन के बाद तीसरे दिन बहेड़ा के बराबर आहार लेते हैं।

4. इस काल के प्रारंभ में मनुष्यों की ऊँचाई 4000 धनुष एवं आयु दो पल्य की होती है एवं अंत में घटते-घटते ऊँचाई 2000 धनुष एवं आयु एक पल्य की रह जाती है।

5. यह काल 3 कोड़ाकोड़ीसागर का होता है। इसमें शरीर का वर्ण, पूर्ण चद्रंवत् श्वेतरंग के समान रहता है।

3. सुखमादु:खमा काल की विशेषताएँ-

1. द्वितीय काल की अपेक्षा सुख में हीनता होती जाती है। इसे जघन्य भोगभूमि का काल कहते हैं।

2. इस काल में जन्मे युगल, 49 दिनों में पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे - द्वितीय काल में 7 प्रकार की वृद्धियों में 5-5 दिन लगते हैं तो यहाँ 7-7 दिन लगते हैं।

3. एक दिन के बाद दूसरे दिन आँवले के बराबर आहार लेते हैं।

4. इस काल के प्रारंभ में मनुष्यों की ऊँचाई 2000 धनुष एवं आयु एक पल्य की होती है, जो अंत में घटते-घटते ऊँचाई 500 धनुष एवं आयु एक कोटि पूर्व की रह जाती है।

5. यह काल दो कोड़ाकोड़ीसागर का होता है। इसमें शरीर का वर्ण, नीलेरंग के समान रहता है।

6. कुछ कम पल्य का आठवाँ भाग शेष रहने पर, कुलकरों का जन्म प्रारंभ हो जाता है। वे भोगभूमि के समापन से आक्रान्त मनुष्यों को जीवन जीने की कला का उपाय बताते हैं। इन्हें मनु भी कहते हैं। अन्तिम कुलकर से प्रथम तीर्थंकर की उत्पत्ति होती है।

4. दु:खमासुखमा काल की विशेषताएँ -

1. यह काल अधिक दु:ख एवं अल्प सुखवाला है तथा इस काल के प्रारंभ से ही कर्मभूमि प्रारंभ हो जाती है।

2. कल्पवृक्षों की समाप्ति होने से अब, जीवनयापन के लिए षट्कर्म प्रारंभ हो जाते हैं। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प - ये षट्कर्म हैं।

3. शलाका पुरुषों एवं महापुरुषों का जन्म एवं मोक्ष भी इसी काल में होता है। चतुर्थ काल का जन्मा, पंचम काल में मोक्ष जा सकता है; परन्तु पंचम काल का जन्मा, पंचम काल में मोक्ष नहीं जा सकता।

4. युगल सन्तान के जन्म का नियम नहीं होना एवं माता-पिता के द्वारा बच्चों का पालन किया जाना प्रारम्भ हो जाता है।

5. इस काल के मनुष्य प्रतिदिन (एक बार) आहार करते हैं।

6. इस काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की ऊँचाई 500 धनुष एवं आयु एक कोटि पूर्व की होती है एवं अन्त में घटते-घटते ऊँचाई 7 हाथ एवं आयु 120 वर्ष की रह जाती है।

7. यह काल 42,000 वर्ष कम 1 कोड़ाकोड़ीसागर का होता है, इसमें पाँचों वर्णवाले मनुष्य होते हैं।

8. छह संहनन एवं छह संस्थानवाले मनुष्य एवं तिर्यंच होते हैं।

5. दु:खमा काल की विशेषताएँ -

1. यह काल, दु:खवाला है तथा इस काल के मनुष्य, मन्द बुद्धिवाले होते हैं।

2. इस काल के मनुष्य अनेक बार भोजन करते हैं।

3. इस काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की ऊँचाई 7 हाथ एवं आयु 120 वर्ष की होती है एवं अन्त में घटते -घटते ऊँचाई 3 हाथ या 3.5 हाथ एवं आयु 20 वर्ष की रह जाती है।

4. यह काल 21,000 वर्ष का होता है। इसमें पाँचों वर्णवाले, किन्तु कान्ति से हीन शरीर होते हैं।

5. अन्तिम तीन संहननधारी मनुष्य एवं तिर्यंच होते हैं।

6. पाँच सौ वर्ष बाद उपकल्की राजा व हजार वर्ष बाद एक कल्की राजा उत्पन्न होता है।

7. अभी यहाँ इक्कीसवाँ अन्तिम कल्की राजा जलमंथन, मुनिराज से टैक्स माँगेगा; परन्तु मुनि महाराज क्या दें ? राजा कहेगा प्रथम ग्रास दीजिए। मुनि महाराज के नहीं देने पर वह उनके हाथ में से उसे उठा लेगा; जिससे पिण्डहरण नामक अन्तराय करके महाराजश्री वापस आ जाएँगे। वे अवधिज्ञान से जान लेंगे कि अब पंचम काल का अन्त है और तीन दिन की आयु शेष है। चारों (वीरांगज मुनि, सर्वश्री आर्यिका, अग्निल श्रावक, पंगुश्री श्राविका) सल्लेखना ग्रहण कर लेंगे। कार्तिक कृष्ण अमावस्या को प्रात:काल, शरीर त्यागकर सौधर्म स्वर्ग में देव हों, मध्याह्न में असुरकुमार देव, धर्मद्रोही कल्की को समाप्त कर देगा और सूर्यास्त के समय अग्नि नष्ट हो जाएगी है। इसके बाद आगे बढ़ते-बढ़ते पंचम काल का अन्त होता है।

   नोट - एक कथनानुसार प्रत्येक कल्की के समय एक अवधि ज्ञानी मुनि नियम से होते हैं।

6. दु:खमादु:खमा काल की विशेषताएँ -

1. यह काल दु:ख ही दु:खवाला है तथा इस काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की ऊँचाई 3 हाथ या 3.5 हाथ एवं आयु 20 वर्ष की होती है एवं अन्त में घटते-घटते ऊँचाई 1 हाथ एवं आयु 15 या 16वर्ष रह जाती है।

2. यह काल भी 21,000 वर्ष का होता है। इसमें शरीर का रंग धुएँ के समान काला होता है।

3. इस काल के मनुष्यों का आहार कन्दमूल, फल आदि होता है। सब नग्न और भवनों से रहित होकर वनों में घूमते हैं।

4. इस काल के मनुष्य प्राय: पशुओं जैसा आचरण करनेवाले क्रूर, बहरे, अंधे, गूँगे, बन्दर जैसे रूपवाले और कुबड़े, बौने शरीरवाले अनेक रोगों से सहित होते हैं।

5. इस काल में जन्म लेनेवाले नरक व तिर्यंच गति से आते हैं एवं मरण कर वहीं जाते हैं।

6. इस काल के अन्त में संवर्तक (लवा) नाम की वायु, पर्वत, वृक्ष और भूमि आदि को चूर्ण करती हुई दिशाओं के अंत पर्यंत भ्रमण करती है, जिससे वहाँ स्थित जीव मूर्छित हो जाते हैं और कुछ मर भी जाते हैं। इससे व्याकुल मनुष्य और तिर्यंच, शरण के लिए विजयार्ध पर्वत और गंगा, सिन्धु की वेदी में स्वयं प्रवेश कर जाते हैं तथा दयावान विद्याधर और देव, मनुष्य एवं तिर्यंचों में से बहुत से जीवों को वहाँ ले जाकर सुरक्षित रख देते हैं। इसके पश्चात् क्रमश: 7-7 दिन तक सात प्रकार की कुवृष्टि होती है। उस समय गम्भीर गर्जना से सहित मेघ तुहिन (ओला), क्षार जल, विष, धूम, धूलि, वज्र एवं जलती हुई दुष्प्रेक्ष्य ज्वाला की 7-7 दिन वर्षा होती है अर्थात् कुल 49 दिन तक वर्षा होती है।

अवशेष रहे मनुष्य, उन वर्षाओं से नष्ट हो जाते हैं। विष एवं अग्नि की वर्षा से दग्ध हुई पृथ्वी, एक योजन तक (मोटाई में) चूर्ण हो जाती है।

इस प्रकार दस कोड़ाकोड़ीसागर का यह अवसर्पिणी काल समाप्त हो जाता है। उसके बाद उत्सर्पिणी के प्रथम काल में मेघों द्वारा क्रमश: जल, दूध, घी, अमृत, रस आदि की वर्षा 7-7 दिन होती है। यह भी 49 दिन तक होती है। इस वर्षा से पृथ्वी स्निग्धता, धान्य तथा औषधियों को धारण कर लेती है। बेल, लता, गुल्म और वृक्ष वृद्धि को प्राप्त होते हैं। शीतल गन्ध को ग्रहण कर, वे मनुष्य और तिर्यंच गुफाओं से बाहर निकलते हैं। उस समय मनुष्य, पशुओं जैसा आचरण करते हुए क्षुधित होकर वृक्षों के फल, मूल व पत्ते आदि को खाते हैं। इस काल में आयु, ऊँचाई, बुद्धि, बल आदि क्रमश: बढ़ने लगते हैं। इसका नाम भी दु:खमादु:खमा काल है।

उत्सर्पिणीकाल की सम्पूर्ण व्यवस्था अवसर्पिणीकाल से ठीक विपरीत है।

षट्कालों का परिवर्तन भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्डों में ही होता है, अन्यत्र नहीं अर्थात् शेष पाँच क्षेत्रों / म्लेच्छ खण्डों तथा विजयार्ध पर्वत पर यह परिवर्तन नहीं होता। विदेहक्षेत्र में सदैव अवसर्पिणीवाले चतुर्थ काल के प्रारम्भ जैसा काल रहता है। विजयार्ध पर्वत एवं म्लेच्छखण्ड में काल (चौथा काल) घटता-बढ़ता रहता है। हैमवत, हैरण्यवत में शाश्वत जघन्य भोग-भूमिवत्, हरि तथा रम्यक क्षेत्र में मध्यम भोग-भूमिवत् एवं देवकुरु और उत्तरकुरु में उत्तम भोग-भूमिवत् काल सदैव रहता है।

इस तरह एक अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी के पूर्ण बीत जाने पर एक कल्प-काल पूर्ण होता है।

ऐसे अनन्त कल्प-काल अभी तक बीत चुके हैं। ऐसी असंख्यात उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी बीत जाने पर हुण्डावसर्पिणी काल आता है।

प्रश्न – यह हुण्डावसर्पिणी क्या है ?

उत्तर – जिसमें योग्य प्रवृत्ति से विपरीत अयोग्य प्रवृत्तियों की बहुलता हो जाती है, वह हुण्डावसर्पिणी है। जैसे – किसी राजा ने किसी कारणवश कुछ काल के लिए अपना राज्य अपने किसी सेवक को दे दिया। उसने राज्य पाकर राजनीति से विपरीत क्रियाएँ प्रारम्भ कर दीं। जिनसे कर अधिक लेना चाहिए उनसे कम लेने लगा; जिनसे कम लेना चाहिए, उनसे अधिक लेने लगा; जिन्हें थोड़ा दण्ड देना चाहिए, उन्हें बहुत दण्ड देने लगा; जिन्हें बहुत दण्ड देना चाहिए था, उन्हें कम देने लगा इत्यादि अनेक विपरीत क्रियाएँ करने लगा।

इसमें अनेक विपरीत क्रियाएँ हो जाती हैं; परन्तु नियमरूप वस्तु क्रिया को अन्य प्रकार करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है।

जैसे – इस काल में त्रिपृष्ठ नारायण का जीव, अन्तिम तीर्थंकर महावीर हो गया। शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ – ये तीन तीर्थंकर भी और चक्रवर्ती भी हो गए। इस कारण त्रेषठ शलाकापुरुषों में से चार जीव, कम हो जाने के कारण ये जीव उन्सठ ही हुए, परन्तु पद त्रेषठ ही रहे। चक्रवर्ती या चक्ररत्न का अपमान होना, तीर्थंकर गृहस्थ के पुत्री होना, तीर्थंकर मुनि के ऊपर उपसर्ग होना; जिनमत में ढूँढ़िया, श्वेताम्बरी आदि पाखण्डों का होना इत्यादि कार्य, हुण्डावसर्पिणी काल के कारण हो गए।

कालचक्र के ज्ञान से, विश्व का कोई सृष्टा (उत्पादक) है अथवा कोई प्रलयकर्ता (संहारक) है, ऐसी भ्रान्ति निर्मूल होती है; पाषाण काल (stone-age) का यह अर्थ नहीं है, कि उस समय पाषाण के आयुध (अस्त्र-शस्त्र) बनते थे। पाषाण काल का वास्तविक अर्थ यह है कि सुखमादुखमा काल तक, मनुष्यों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति पाषाण वृक्षों (कल्पवृक्षों) से होती थी। ये वृक्ष, पृथ्वीकायिक हुआ करते थे। वैज्ञानिक डार्विन का विकासवाद, जो यह मानता है कि मनुष्य के पूर्वज बन्दर थे; – भी कालचक्र के परिज्ञान से निर्मूल हो जाता है।

प्रश्न –

1. उत्सर्पिणीकाल तथा अवसर्पिणीकाल क्या है ? यह कालपरिवर्तन कहाँ पर होता है ?
2. हुण्डावसर्पिणीकाल क्या है ?
3. भोगभूमि की क्या विशेषताएँ होती हैं ?
4. कर्मभूमि की क्या विशेषताएँ हैं ?

पाठ 5

मुक्ति का मार्ग

आचार्य अमृतचन्द्र

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

आध्यात्मिक सन्तों में कुन्दकुन्दाचार्य के बाद यदि किन्हीं का नाम लिया जा सकता है, तो वे हैं आचार्य अमृतचन्द्र। दु:ख की बात है कि दसवीं शती के लगभग होनेवाले इन महान आचार्य के बारे में उनके ग्रन्थों के अलावा हम कुछ भी नहीं जानते।

लोक-प्रशंसा से दूर रहनेवाले आचार्य अमृतचन्द्र अनेक अपूर्व ग्रन्थों व टीकाओं की रचनाएँ करने के उपरान्त भी, यही लिखते हैं –

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥226॥ — *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय*

तरह-तरह के वर्णों से, पद बन गये; पदों से वाक्य बन गये और वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बन गया। मैंने कुछ भी नहीं किया है।

इसी प्रकार का भाव आपने 'तत्त्वार्थसार' ग्रन्थ में भी प्रकट किया है।

पण्डित आशाधरजी ने आपको 'ठक्कुर' शब्द से अभिहित किया है; अत: प्रतीत होता है कि आप किसी उच्च क्षत्रिय घराने से सम्बन्धित रहे होंगे।

आपका संस्कृतभाषा पर अपूर्व अधिकार था। आपकी गद्य और पद्य – दोनों प्रकार की रचनाओं में, आपकी भाषा भावानुवर्तिनी एवं सहज बोधगम्य माधुर्यगुण से परिपूर्ण है। आप आत्मरस में निमग्न रहनेवाले महात्मा थे; अत: आपकी रचनाएँ अध्यात्मरस से ओतप्रोत हैं।

आपके सभी ग्रन्थ संस्कृतभाषा में हैं। गद्य रचनाओं में आचार्य कुन्दकुन्द के तीन ग्रन्थों पर की गई टीकाएँ हैं। यथा –

1. समयसार की टीका – जो 'आत्मख्याति' के नाम से जानी जाती है।
2. प्रवचनसार टीका – जिसे 'तत्त्वदीपिका' कहते हैं।
3. पंचास्तिकाय टीका – जिसका नाम 'समयव्याख्या' है।

पद्य रचनाओं में से –

4. तत्त्वार्थसार – यह ग्रन्थ गृद्धपिच्छ उमास्वामी के गद्यसूत्रों का एक तरह से पद्यानुवाद है।

5. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय – गृहस्थधर्म पर आपका मौलिक ग्रन्थ है। इसमें हिंसा और अहिंसा का बहुत ही तथ्यपूर्ण विवेचन किया गया है।

प्रवचनकार एवं श्रोताओं के बीच की निम्न चर्चा, आपके ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पर आधारित है –

मुक्ति का मार्ग

प्रवचनकार – यह तो सर्वमान्य एवं सर्वानुभूत तथ्य है कि संसार में सब प्राणी दु:खी हैं और सभी दु:ख से मुक्ति चाहते हैं, तदर्थ यत्न भी करते हैं; परन्तु उस मुक्ति का सही मार्ग पता न होने से, उनका किया गया सारा ही प्रयत्न व्यर्थ जाता है; अत: मूलभूत प्रश्न तो यह है कि वास्तविक मुक्ति का मार्ग क्या है ?

मुक्ति का मार्ग क्या है ? इस प्रश्न के पूर्व, वास्तविक मुक्ति क्या है ? –इस समस्या का समाधान अपेक्षित है। मुक्ति का आशय, दु:खों से पूर्णत: मुक्ति से है। दु:ख, आकुलतारूप है; अत: मुक्ति, पूर्ण निराकुलतारूप होनी चाहिए। जहाँ रंचमात्र भी आकुलता रहे, वह परिपूर्ण सुख नहीं अर्थात् मुक्ति नहीं है।

मुक्ति का मार्ग क्या है ? इसका निरूपण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति ॥20॥ — *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय*

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। प्रत्येक जीव को इसका सेवन यथाशक्ति करना चाहिए।

अत: यह तो निश्चित हुआ कि सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान अर्थात् सच्चा ज्ञान और सम्यक्चारित्र अर्थात् सच्चा चारित्र, इन तीनों की एकता ही मुक्ति का सच्चा मार्ग है। पर प्रश्न उठता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र क्या हैं ?

निश्चय से तो तीनों, आत्मरूप ही हैं अर्थात् आत्मा की शुद्धपर्यायें ही हैं। परपदार्थों से भिन्न अपने आत्मा का वास्तविक स्वरूप, स्वसन्मुख होकर समझकर उसमें आत्मपने की श्रद्धा, सम्यग्दर्शन; परपदार्थों से भिन्न, अपने आत्मा की तथा परपदार्थों की स्वसन्मुख होकर यथार्थ जानकारी, सम्यग्ज्ञान और परपदार्थों एवं परभावों से भिन्न अपने ज्ञान-स्वभावी आत्मस्वरूप में लीन होते जाना ही सम्यक्चारित्र है।

इनका विशेष खुलासा करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥22॥ — *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय*

विपरीत मान्यता से रहित, जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान (प्रतीति) करना ही सम्यग्दर्शन है। इसे प्राप्त करने का नित्य प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि वह आत्मरूप ही है।

हमें सबसे पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए, क्योंकि इसे प्राप्त किये बिना, मोक्षमार्ग का आरम्भ ही नहीं होता है। कहा भी है –

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥21॥ — *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय*

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों में सबसे पहले सम्यग्दर्शन को पूर्ण प्रयत्न करके प्राप्त करना चाहिए; क्योंकि इसके होने पर, ज्ञान, सम्यग्ज्ञानरूप और चारित्र, सम्यक्चारित्ररूप परिणत होता है।

सम्यग्दर्शन के बिना, समस्त ज्ञान, अज्ञान और समस्त महाव्रतादिरूप शुभाचरण, मिथ्याचारित्ररूप ही रहता है।

मुमुक्षु – यह सम्यग्दर्शन प्राप्त कैसे होता है ?

प्रवचनकार – सर्व प्रथम तत्त्वाभ्यास से सप्त तत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझने का तथा परपदार्थ और परभावों में परबुद्धि और उनसे भिन्न अपने आत्मा में आत्मबुद्धिपूर्वक, त्रिकाली आत्मा के सन्मुख होकर आत्मानुभूति प्राप्त करने का उद्यम करना ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय है।

प्रश्नकार – और सम्यग्ज्ञान..... ?

प्रवचनकार –

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥35॥ — *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय*

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित एवं अनेकान्तात्मक प्रयोजनभूत-तत्त्व की सही जानकारी ही सम्यग्ज्ञान है। वह भी आत्मरूप है; अतः उसे प्राप्त करने का भी सदा प्रयत्न करना चाहिए।

जिज्ञासु – संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय किसे कहते हैं ?

प्रवचनकार – **संशय** – परस्पर विरुद्ध अनेक कोटि को स्पर्श करनेवाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे – शुभराग, पुण्य है या धर्म अथवा किसी वस्तु में संशय होना कि यह, सीप है या चाँदी।

विपर्यय – विपरीत एक कोटि के निश्चय करनेवाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे – शुभराग को धर्म जानना या सीप को चाँदी जान लेना।

अनध्यवसाय – 'यह क्या है' या 'कुछ है' – केवल इतना अरुचि और अनिर्णयपूर्वक जानने को, अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे – आत्मा कुछ होगा या रास्ते में चलते हुए किसी मुलायम पदार्थ के स्पर्श से यह जानना कि कुछ है।

जिज्ञासु – अब सम्यक्चारित्र भी बताइए।

प्रवचनकार –

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥39॥ — *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय*

समस्त सावद्ययोग से रहित, शुभाशुभभावरूप कषायभाव से विमुक्त, जगत से उदासीनरूप निर्मल आत्मलीनता ही सम्यक्चारित्र है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय भी कहते हैं और यही मुक्ति का मार्ग है।

शंकाकार – तो क्या रत्नत्रय धारण करने से मुक्ति की ही प्राप्ति होगी, स्वर्गादि की नहीं ?

प्रवचनकार – भाई ! स्वर्गादि तो संसार है। जो मुक्ति का मार्ग है, वही संसार का मार्ग कैसे हो सकता है ? स्वर्गादि की प्राप्ति तो मुक्तिमार्ग के पथिक को होनेवाले हेयरूप शुभभाव से, पुण्य का बन्ध होने पर सहज ही हो जाती है। रत्नत्रय तो मुक्तिमार्ग है; बन्धन का मार्ग नहीं।

शंकाकार – तो फिर रत्नत्रय के धारी मुनिराज, स्वर्गादि क्यों जाते हैं ?

प्रवचनकार – रत्नत्रय तो मुक्ति का ही कारण है, पर रत्नत्रयधारी मुनिवरों के जो रागांश शेष रहता है, वही बन्ध का कारण है। शुभभावरूप अपराध के फल से मुनिवर, स्वर्ग में जाते हैं।

शंकाकार – शुभोपयोग को अपराध कहते हो ?

प्रवचनकार – सुनो भाई ! मैं थोड़े ही कहता हूँ। आचार्य अमृतचन्द्र ने स्वयं लिखा है–

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुः प्रभृति सत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥219॥ — *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय*

यदि रत्नत्रय, बन्ध का कारण नहीं है, तो फिर शंका उठती है कि रत्नत्रयधारी मुनिवरों के देवायु आदि सत्प्रकृतियों का बन्ध कैसे होता है ?

उक्त प्रश्न के उत्तर में वे आगे लिखते हैं –

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥220॥

रत्नत्रयधर्म, निर्वाण का ही कारण है; अन्य स्वर्गादि का नहीं। मुनिवरों को जो स्वर्गादि के कारण (साधन), जो पुण्य का आस्रव होता है, उसमें **शुभोपयोग का ही अपराध है।**

शंकाकार – उन मुनिराजों के रत्नत्रय भी तो था, फिर उन्हें बन्ध क्यों हुआ ?

प्रवचनकार – जितने अंशों में रत्नत्रय है, उतने अंशों में बंध नहीं है। जितने अंशों में रागादि हैं, उतने अंशों में बन्ध है। कहा भी है –

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥212॥

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥213॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥214॥

इस आत्मा के जिस अंश में सम्यग्दर्शन है, उस अंश (पर्याय) में बन्ध नहीं है तथा जिस अंश में राग है, उस अंश में बन्ध होता है। जिस अंश में इसके ज्ञान है, उस अंश में बन्ध नहीं है और जिस अंश में राग है, उस अंश में बन्ध होता है। जिस अंश में इसके चारित्र है, उस अंश में बन्ध नहीं है और जिस अंश में राग है, उस अंश में बन्ध होता है।

अतः यदि हमें बन्ध का अभाव करना है अर्थात् दुःख मेटना है तो रत्नत्रयरूप परिणमन करना चाहिए। यही एकमात्र सांसारिक दुःखों से छूटने के लिए मुक्ति का सच्चा मार्ग है।

प्रश्न –

1. मुक्ति क्या है और मुक्ति का मार्ग (मोक्षमार्ग) किसे कहते हैं ?
2. निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र की परिभाषाएँ बताइए।
3. सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय क्या है ?
4. संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय की परिभाषाएँ बताइए।
5. रत्नत्रय, स्वर्गादि का कारण क्यों नहीं है ? सतर्क उत्तर दीजिए।

वयस्यन्तेऽपि वा दीक्षा प्रेक्षावद्भिरपेक्ष्यताम्।
भस्मने रत्नहारोऽयं पण्डितैर्न हि दह्यते॥१८॥

अर्थात् – विवेकीजनों को कम से कम अपनी मनुष्य आयु के अंतिम भाग अर्थात् वृद्धावस्था में तो जिनदीक्षा को स्वीकार करना ही चाहिए; क्योंकि पंडितजन इन्द्रिय-विषयरूपी राख के लिए रत्नहार को जलाने का निकृष्ट कार्य नहीं करते। **(क्षत्रचूड़ामणि, 11 वाँ लम्ब)**

पाठ 6

शलाकापुरुष

सातिशय पुण्य के फलस्वरूप मनुष्यों में श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि पुरुषों को शलाकापुरुष कहते हैं। प्रस्तुत पाठ में हम प्रमुख शलाकापुरुषों की सामान्य जानकारी करेंगे।

काल-चक्रानुसार उत्सर्पिणी के बाद, अवसर्पिणी और अवसर्पिणी के बाद, उत्सर्पिणीकाल आता है। अवसर्पिणी के चतुर्थ और उत्सर्पिणी के तृतीय काल में अर्थात् कर्मभूमि (दु:खमा-सुखमा काल) में ही ये शलाकापुरुष होते हैं।

शलाकापुरुष कुल 63 होते हैं। वे इस प्रकार—24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 नारायण (वासुदेव), 9 प्रतिनारायण (प्रति वासुदेव)। इनमें यदि हम, तीर्थंकरों के माता-पिता 48, 9 नारद, 11 रुद्र, 24 कामदेव तथा 14 कुलकर भी जोड़ दें तो कुल 169 शलाका महापुरुष होते हैं।

वर्तमान हुण्डावसर्पिणीकाल के इस समय में 57 ही शलाकापुरुष हुए; क्योंकि प्रथम नारायण त्रिपृष्ठ का जीव ही आगे अंतिम चौबीसवाँ तीर्थंकर वर्धमान हुआ; तीन तीर्थंकर शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ व अरनाथजी, चक्रवर्ती पद के भी धारी थे तथा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और प्रथम चक्रवर्ती भरत का जन्म, तृतीय काल में ही हो गया था। इस प्रकार इन छह को कम करने पर, 57 ही शलाकापुरुष हुए।

शलाकापुरुषों की, सामान्य से कुछ विशेषताएँ होती हैं—

1. तीर्थंकरादि ये सभी महापुरुष भव्य होते हैं।

2. इनमें से तीर्थंकर और कामदेव उसी भव से मुक्त हो जाते हैं; शेष अपनी-अपनी योग्यतानुसार कुछ उसी भव में और कुछ कालांतर में मुक्त होते हैं।

3. सभी शलाकापुरुषों के शरीर, सुन्दर, वज्रवृषभनाराच आदि उत्तम संहनन, समचतुरस्रसंस्थान एवं यथायोग्य पंच वर्ण से युक्त होते हैं।

4. 63 शलाकापुरुषों के दाढ़ी-मूँछें नहीं होती हैं।

5. मनुष्यलोक में कभी भी चक्रवर्ती, तीर्थंकर, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण का परस्पर मिलाप नहीं होता है अर्थात् एक तीर्थंकर का दूसरे तीर्थंकर से मिलाप नहीं होता।

तीर्थंकर - इनके निमित्त से धर्म का प्रवर्तन होता है। गर्भ-अवतरणादि क्रियाओं के समय, देवतागण सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से अनेक उत्सव मनाते हैं। जन्म से दीक्षा के पूर्व तक, इनके भोजन, वस्त्रादि

की व्यवस्था, सौधर्म इन्द्र करता है। तीर्थंकर उसी भव में मुक्त होते हैं। उनके जीवन-काल में किसी परिवारजन का उनसे वियोग नहीं होता है। **तीर्थंकर, अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान होते हैं।**

चक्रवर्ती - एक आर्यखण्ड तथा पाँच म्लेच्छखण्ड—इस प्रकार छह खण्डों का स्वामी, 32000 मुकुटधारी राजाओं का अधिपति होता है। चौदह रत्न तथा नौ निधियाँ उसके महापुण्य के परिचायक हैं। चक्रवर्ती की 96000 रानियाँ होती हैं। उसकी पटरानी मासिकधर्म से रहित होती है। प्रतिदिन स्वादिष्ट भोजन बनाकर देनेवाले रसोईयों के 365 समूह होते हैं। चक्रवर्ती अत्यन्त गरिष्ठ भोजन करने पर भी, उसके निहार (मल-मूत्र) नहीं होता। सभी चक्रवर्ती अपने पूर्व मनुष्यभव में मुनिदीक्षा धारण करके, घोर तप करते हैं। चक्रवर्ती, पृथक् विक्रिया के काल में अपने शरीर के अनेक रूप बना सकता है।

नारायण-प्रतिनारायण-बलभद्र - सभी नारायण पूर्व भव के निदान से सहित और बलभद्र के छोटे भाई होते हैं। इनके पास सात रत्न होते हैं। नारायण नियम से तीन खण्ड के अधिपति, प्रतिनारायण का घात कर उसके स्वामी होते हैं। दोनों समान नरक में जाते हैं। बलभद्र, स्वर्ग या मोक्ष जाते हैं।

नारद - ये प्रायः युवावस्था में क्षुल्लक वेशधारी अथवा ब्रह्मचारी होते हैं। ये कलह एवं युद्ध प्रिय होते हैं। ये नारायण के समय ही जन्म लेते हैं। राजाओं के सम्माननीय तथा राजमहल में बेरोक-टोक आने-जानेवाले होते हैं। सभी भव्य होते हैं; किन्तु वर्तमान में कलहप्रियता के कारण, नरक में जाते हैं।

रुद्र - कुमारावस्था में जिनदीक्षा धारण कर कठोर तपस्या करते हुए जिन्हें अंगों का ज्ञान हो जाता है; किन्तु दशवें विद्यानुवाद पूर्व का अध्ययन करते समय, विषयों के आधीन होकर, पथभ्रष्ट होते हैं। ये मरकर नरक में ही जाते हैं।

कामदेव - चौबीस तीर्थंकरों के काल में अत्यन्त सुन्दर रूप लावण्य से युक्त ये कामदेव होते हैं। ये तद्भव मोक्षगामी होते हैं।

कुलकर - जो अवधिज्ञान से युक्त भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं तथा भोगभूमि के समापन के भय से ग्रसित जीवों को जीवन जीने की कला सिखाते हैं, उन्हें कुलकर या मनु कहते हैं। ये क्षायिकसम्यग्दृष्टि होते हैं। **इनके अतिरिक्त प्रारंभ में असि-मसि आदि षट्कर्मों के उपदेष्टा होने से, ऋषभदेव को तथा ब्राह्मण वंश के जन्मदाता होने के कारण, भरत चक्रवर्ती को भी कुलकर अथवा मनु कहा जाता है।**

नोट - विशेष जानकारी के लिए तिलोयपण्णत्ति, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थों का अध्ययन करें।

प्रश्न -

1. शलाकापुरुष कब तथा कहाँ होते हैं ?
2. शलाकापुरुष तथा महापुरुषों की संख्या पदों में विभाजन करके लिखें।
3. कुलकर की क्या विशेषता होती है ?

पाठ 7

अहिंसा परमोधर्मः

अध्यापक – भव्यो!! आइये आज हम जैनशासन का हार्द 'अहिंसा' को समझते हैं। ज्ञानियों ने अहिंसा को परम-ब्रह्म कहा है –'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म-परमं।'

छात्र – गुरुजी, गाँधीजी ने भी तो अहिंसा को ही पूज्य माना है।

अध्यापक – जी हाँ। भव्यो, अहिंसा यह कायरता की निशानी नहीं है, बल्कि वीरों का आभूषण है। इसमें अगाध ताकत है।

छात्र – क्या है यह अहिंसा ?

अध्यापक – **'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** – ऐसा तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय का सूत्र है अर्थात् प्रमाद के योग से प्राण का घात ही हिंसा है।

छात्र – गुरुजी, प्राण का घातमात्र ही तो हिंसा है ?

अध्यापक – प्राण का घात, द्रव्यहिंसा है, इसे तो सभी दर्शन मानते हैं, जैनदर्शन की यह विशेषता है कि वह गहरी तथा सूक्ष्म चर्चा करता है; इसीलिए तो गाँधीजी ने यह भी कहा है कि जहाँ अन्य दर्शनों की अहिंसा समाप्त होती है, वहाँ से जैनों की अहिंसा प्रारम्भ होती है।

छात्र – प्रमाद क्या है ?

अध्यापक – भावहिंसा, प्रमाद है और हिंसा में प्रमाद-परिणति मूल है; इसीलिए तो कहा है—

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात् स्याद्वा न वा वधः॥

अर्थात् प्रमादी, प्रमाद के योग से पहले अपनी हिंसा तो कर ही लेता है; अन्य प्राणियों का घात पीछे हो या न भी हो।

छात्र – मात्र द्रव्यहिंसा को हिंसा कहने में क्या आपत्ति है ?

अध्यापक – इसका सुन्दर उत्तर अकलंकस्वामी ने दिया है—

जले जन्तुस्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥

अर्थात् जल में, थल में, आकाश में, सभी जगह जीव भरे हुए हैं, जीवों से व्याप्त संसार में गमनागमन करता हुआ भिक्षु (कोई भी जीव), अहिंसक कैसे हो सकता है ? भाई ! श्वास लेने में भी तो हिंसा होती ही है न ?

छात्र – खूब समझा गुरुजी, क्या और भी कोई आपत्ति आयेगी ?

अध्यापक – सुनो ! अरहन्तावस्था होते ही जब परमौदारिक शरीर होता है, तब उनके पूर्व में रहे औदारिकशरीर के आश्रय से रहनेवाले अनन्त बादर निगोदी जीवों का घात होता है। ऐसी स्थिति में सबसे ज्यादा हिंसा, अरहन्तों में सिद्ध होगी, पर भावहिंसा अर्थात् रागादि की उत्पत्ति ही परमार्थ से हिंसा है। प्रवचनसार में भी कहा है –

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥

अर्थात् प्राणी मरे या न मरे, पर अयत्नाचार से हिंसा होती ही है। यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले के, मात्र बाह्यहिंसा से बन्ध नहीं होता।

छात्र – इससे तो विश्व में स्वच्छन्दता आ जाएगी, क्योंकि जब द्रव्यहिंसा को हम हिंसा ही न समझें...

अध्यापक – सुनो ! भावों का सुधार होने के उपरान्त, क्रियाओं में सुधार होता ही है। क्रियाओं के सुधार का उपदेश भी भावों के सुधार के लिये ही तो है।

छात्र – अहा ! कैसा अद्भुत सम्बन्ध है, भावों का और क्रियाओं का ! अब समझ में आया कि अहिंसा, परमधर्म है, जगत का संरक्षण करनेवाली माता है। '**अहिंसा जगन्माता।**'

(बोलो अहिंसा परमो धर्म की....)

प्रश्न –

1. तत्त्वार्थसूत्र के आधार से हिंसा के स्वरूप पर प्रकाश डालें ?
2. जीव के भावों का और क्रियाओं का क्या संबंध है ?
3. प्रवचनसार के आधार से अहिंसा का स्वरूप लिखें।

जीवितात्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरम्।
मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने॥40॥

अर्थात् – पराधीन रहकर जीवन जीने की अपेक्षा जीवों को मरण ही श्रेष्ठ लगता है; वन में सिंह को वनचरों का स्वामी किसने बनाया ? किसी ने नहीं। सिंह तो स्वयमेव अपने पुरुषार्थ से ही स्वामी बन जाता है।

(क्षत्रचूड़ामणि, पहला लम्ब)

पाठ 8

इतिहास के आलोक में जैनशासन का प्रभुत्व

शुद्धधर्मप्रेमी मङ्गलार्थियो! जैनत्व की गरिमा को अक्षुण्ण रखने में तथा संवर्धन करने में, जिनका योगदान उल्लेखनीय है, ऐसे वीरों में से कुछ का परिचय करते हैं-

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य और मन्त्रीश्वर चाणक्य

ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के अन्तिम पाद में शक्तिशाली नन्दवंश का उच्छेद कर मौर्य वंश की स्थापना करनेवाले ये दोनों प्रधान नायक थे, जो शिष्य-गुरु थे। चाणक्य, राजनीति विद्या-विचक्षण एवं नीतिविशारद ब्राह्मण पण्डित थे। चन्द्रगुप्त, परम पराक्रमी एवं तेजस्वी क्षत्रिय वीर थे। इस विरल मणि-कांचन संयोग को सुगन्धित करनेवाला अन्य सुयोग यह था कि वे दोनों ही अपनी-अपनी कुल परम्परा तथा व्यक्तिगत आस्था की दृष्टि से जैनधर्म के प्रबुद्ध अनुयायी थे।

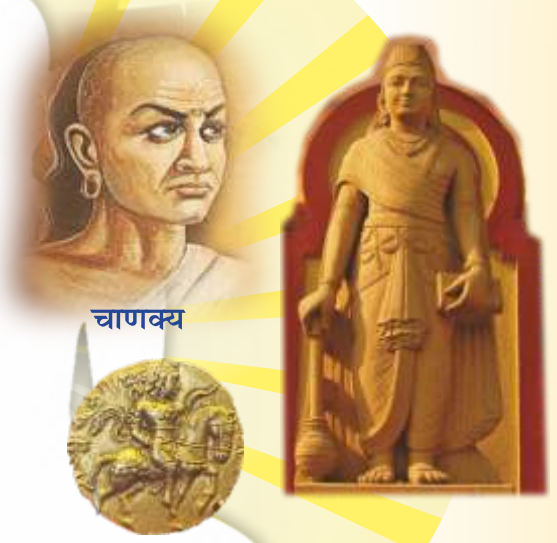

चाणक्य

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य

चाणक्य का जन्म ईसा पूर्व 375 के लगभग चणय नामक ग्राम में हुआ था। माता का नाम चणेश्वरी एवं पिता का नाम चणक था। चणक के पुत्र होने से उनका नाम चाणक्य हुआ। ये बाह्मण थे, किन्तु धर्म की दृष्टि से पापभीरू जैनश्रावक थे। शिशु चाणक्य के मुँह में जन्म से ही दाँत थे, यह देखकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। इस लक्षण को देख भविष्य वक्ता ने इसे एक शक्तिशाली नरेश होना बताया। ब्राह्मण चणक, श्रावकोचित क्रिया करनेवाला, सन्तोषी वृत्तिवाला धार्मिक व्यक्ति था, वैसे ही उसकी सहधर्मिणी थी। राज्यवैभव को वे लोग, पाप और पाप का कारण समझते थे; अतएव चणक ने शिशु के दाँत उखड़वा दिए। इस पर साधुओं ने भविष्य वाणी की कि अब वह स्वयं राजा नहीं बनेगा, किन्तु अन्य व्यक्ति के माध्यम से राज्यशक्ति का उपभोग और संचालन करेगा।

विद्वान होने का तत्कालीन ज्ञानकेन्द्र तक्षशिला तथा उसके आसपास निवास करनेवाले आचार्यों

से चाणक्य ने शिक्षण प्राप्त किया। तीक्ष्ण बुद्धिमान होने से समस्त विद्याओं एवं शास्त्रों में वह पारंगत हो गया। धनहीनता से पीड़ित चाणक्य पाटलीपुत्र के राजा महापद्म के पास पहुँचा। अपनी विद्वत्ता से उसने राजा को प्रभावित किया एवं दान विभाग के प्रमुख का पद प्राप्त किया। किन्हीं कारणों से राजपुत्र के द्वारा किए गए अपमान से क्षुब्ध एवं कुपित चाणक्य ने भरी सभा में नन्दवंश के समूल नाश की प्रतिज्ञा की और पाटलीपुत्र का परित्याग कर दिया।

चन्द्रगुप्त में, बचपन में ही वीरता की झलक देखकर, उससे प्रभावित होकर, चन्द्रगुप्त के माता-पिता से उसे राजा बनाने का आश्वासन देकर, चाणक्य, चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले गए। कई वर्षों तक उसने चन्द्रगुप्त को विविध अस्त्र-शस्त्रों के संचालन, युद्ध विद्या, राजनीति तथा अन्य उपयोगी ज्ञान-विज्ञान एवं शास्त्रों की समुचित शिक्षा दी एवं धीरे-धीरे युवा वीर साथी जुटा लिए।

ई. पू. 325 के लगभग चाणक्य के पथप्रदर्शन में चन्द्रगुप्त ने मगध राज्य की सीमा पर अपना एक छोटा-सा स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। कुछ दिनों पश्चात् इसने छद्म भेष में नन्दों की राजधानी, पाटलीपुत्र में प्रवेश कर आक्रमण कर दिया। चाणक्य के कूट कौशल के बाद भी नन्दों की असीम सैन्य शक्ति के सम्मुख ये बुरी तरह पराजित हुए और जैसे-तैसे प्राण बचाकर भागे। एक बार घूमते हुए रात्रि में उन्होंने एक झोपड़े में बुढ़िया की डाँट सुनी कि हे पुत्र! तू भी चाणक्य के समान अधीर एवं मूर्ख है, जो गर्म-गर्म खिचड़ी को बीच से ही खा रहा है; हाथ न जलेगा तो क्या होगा? चाणक्य को समझ आयी कि सीधे राजधानी पर हमला बोलकर मैंने गलती की। फिर उन्होंने नन्द साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों पर अधिकार करना प्रारम्भ किया। एक के पश्चात् एक ग्राम, नगर, गढ़ हस्तगत करते चले गए। चन्द्रगुप्त के पराक्रम, रणकौशल एवं सैन्य-संचालन पटुता, चाणक्य की कूटनीति के परिणामस्वरूप प्रायः सभी नन्द-समर्थक लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुए।

इस प्रकार ई. पू. 317 में पाटलीपुत्र में नन्दवंश का पतन और उसके स्थान पर मौर्य वंश की स्थापना हुई। व्यक्तिगतरूप से सम्राट चन्द्रगुप्त धार्मिक एवं साधु-सन्तों का सम्मान करनेवाला था। प्राचीन सिद्धान्त शास्त्र 'तिलोयपण्णत्ति' में चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय कुलोत्पन्न मुकुटबद्ध माण्डलिक सम्राटों में अन्तिम कहा गया है, लगभग 19 वर्ष राज्य भोग करने के पश्चात् ईसा पूर्व 298में आपने अपने पुत्र बिम्बसार को राज्य भार सौंपकर और उसे गुरु चाणक्य के ही अभिभावकत्व में छोड़, दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया तथा दीक्षा लेकर अन्तिम जीवन जैन मुनि के रूप में व्यतीत किया। उनके गुरु आचार्य भद्रबाहु थे, जिन्होंने श्रवणबेलगोल में समाधिमरण ग्रहण किया। उसी स्थान के एक पर्वत पर कुछ वर्ष उपरान्त चन्द्रगुप्त मुनिराज ने सल्लेखनापूर्वक देहत्याग किया।

कुछ दिनों पश्चात् चाणक्य भी मन्त्रीत्व का भार अपने शिष्य राधागुप्त को सौंपकर, मुनि दीक्षा लेकर तपश्चरण के लिए चले गए तथा अन्त समय में सल्लेखनापूर्वक देहत्याग किया।

सम्राट् खारवेल

कलिंग चक्रवर्ती सम्राट **महामेघवाहन ऐल खारवेल** दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व का सर्वाधिक शक्तिशाली, प्रतापी एवं दिग्विजयी नरेन्द्र था। वह राजर्षि, परम जिनभक्त भी था। अपने समय में उसने कलिंग देश को भारतवर्ष की सर्वोपरि राज्यशक्ति बना दिया था तथा उसने लोकहित और जैनधर्म की प्रभावना के भी अनेक चिरस्मरणीय कार्य किए थे। वर्तमान में यही उड़ीसा है।

जैनधर्म के साथ कलिंग देश का अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध रहा है। अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ की प्रथम पारणा जिस राजपुर में हुई थी, उसकी पहचान महाभारत में उल्लिखित कलिंग देश की राजधानी राजपुर से की जाती है। ऐसा माना जाता है कि यहाँ तीर्थंकर पार्श्वनाथ व महावीरस्वामी का भी पदार्पण हुआ था।

खारवेल का जन्म ईसा पूर्व 190 के लगभग हुआ था। पन्द्रह वर्ष की आयु में उसे युवराज का पद प्राप्त हुआ और चौबीस वर्ष की आयु में राज्याभिषेक हुआ। दादा क्षेमराज के समक्ष ही पिता वृद्धिराज की मृत्यु हो गई थी। (ई.पू. 152) उपरान्त यह नरेश कितने वर्ष और जीवित रहा तथा उसने क्या किया, यह जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

सम्राट खारवेल का विश्वश्रुत शिलालेख उड़ीसा राज्य के पुरी जिले के भुवनेश्वर से तीन मील दूर स्थित खण्डगिरि पर्वत के उदयगिरि नामक उत्तरी भाग पर बने हुए हाथी गुम्फा नामक विशाल एवं प्राचीन गुफा मन्दिर के मुख एवं छत पर सत्रह पंक्तियों में लगभग 84 फीट के विस्तार में उत्कीर्ण है। लेख के प्रारम्भ में अरिहन्तों एवं सर्व सिद्धों को नमन किया गया है।

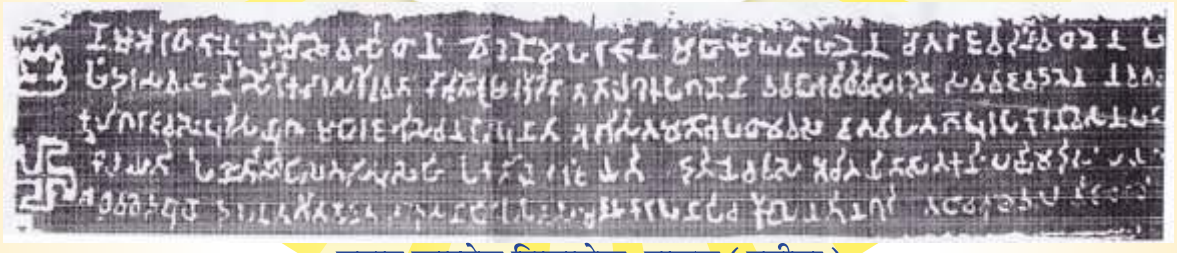

सम्राट खारवेल शिलालेख, उत्कल (उड़ीसा)

उन्होंने तपोधन मुनियों के आवास हेतु गुफाएँ बनवायीं। स्वयं ने उपासक (श्रावक) के व्रत ग्रहण किए और अर्हन्मन्दिर के निकट उसने एक विशाल मनोरम सभामण्डप (अर्कासन गुम्फा) बनवाया, जिसके मध्य में एक बहुमूल्य रत्नजड़ित मानस्तम्भ स्थापित कराया। महामुनि सम्मेलन भी कराया तथा द्वादशांग श्रुत का पाठ कराया। जिनेन्द्र भगवान का उपासक राजर्षि, जो स्वयं को भिक्षुराज कहता था, सम्भव है कि गृह और राजकार्य से विराम लेकर जैनमुनि के रूप में उसने कुमारी पर्वत पर तपश्चरण करके आत्मसाधना की हो।

पूर्व काल में नन्दराजा द्वारा ले जाई गई कलिंगजिन (अग्रजिन या आदिजिन) प्रतिमा को राजा खारवेल, मगध पर विजय करके, अपने शासन में 200-250 वर्ष बाद पुन: वापस लाया था।

वीर मार्तण्ड चामुण्डराय

गंग नरेश जगदेकवीर धर्मावतार राचमल्ल का महासेनापति, चामुण्डराय था। वह बड़ा वीर योद्धा; परम जिनेन्द्र भक्त; कन्नड़, संस्कृत और प्राकृत भाषा का विद्वान कवि एवं ग्रन्थकार, सुदक्ष सैन्य संचालक एवं जैनसिद्धान्त का अच्छा ज्ञाता था। अपनी शूरवीरता, साहस और पराक्रम के कारण उसने बड़ी ख्याति अर्जित की। युद्ध में रण-कौशल के कारण समर-धुरन्धर, वीर-मार्तण्ड, रणरंग-सिंह आदि उनकी उपाधियाँ थीं। उन्हें धार्मिक, गुणरत्न-भूषण आदि सार्थक उपाधियाँ भी प्राप्त थीं।

वे चामुण्डराय, पुराण और चारित्रसार जैसे विशाल एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रणेता भी हैं। गोम्मटसार की वीर-मार्तण्डी टीका (कन्नड़) भी चामुण्डराय रचित मानी जाती है। चामुण्डराय की प्रेरणा अथवा निमित्त से आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने सुप्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, जीवकाण्ड, त्रिलोकसार आदि की रचना की थी।

इन्होंने चन्द्रगिरी पर्वत पर इन्द्रनील मणि की नेमिनाथ भगवान की प्रतिमा विराजमान करवाई थी एवं अपनी जननी काललदेवी की इच्छा पूरी करने के लिए सन् 981 ई. में बाहुबली भगवान की विश्व विश्रुत विशाल 58.8 फीट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा निर्मापित एवं प्रतिष्ठित करवाई थी; जो रूप, शिल्प और मूर्तिविज्ञान की अद्वितीय कलाकृति है। यह विश्व के आश्चर्यों में परिगणित है। इनकी पत्नी अजितादेवी धर्मपरायणा महिला थीं। लगभग 990 ई. में इस महान कर्मवीर एवं धर्मवीर चामुण्डराय का स्वर्गवास हो गया।

भामाशाह

भामाशाह, राणा उदयसिंह के समय से ही मेवाड़ राज्य के दीवान एवं प्रधानमन्त्री थे। हल्दी घाटी के युद्ध (1576ई.) में पराजित होकर स्वतन्त्रता प्रेमी और स्वाभिमानी राणाप्रताप जंगलों और पहाड़ों में भटकने लगे थे। वहाँ भी मुगल-सेना ने उन्हें चैन नहीं लेने दिया; अतएव सभी ओर से हताश और निराश होकर उन्होंने स्वदेश का परित्याग करके अन्यत्र जाने का संकल्प किया। इस बीच स्वदेश-भक्त एवं स्वाभिमानी मन्त्रीश्वर भामाशाह, चुप नहीं बैठे थे। वे देशोद्धार के उपाय में जुटे रहे। ठीक जिस समय राणा, दु:खी मन से मेवाड़ की सीमा से विदाई ले रहा था; तभी वहाँ भामाशाह आ पहुँचा और मार्ग रोककर खड़ा हो गया। उसने राणा प्रताप को ढाढस बँधाया और देशोद्धार के लिए उत्साहित किया। राणा ने कहा – मेरे पास न तो फूटी कौड़ी है, न सैनिक और न साथी ही, फिर किस बूते पर प्रयत्न करूँ। भामाशाह ने तुरन्त इतना विपुल द्रव्य उनके चरणों में समर्पित कर दिया; जिससे 25 हजार सैनिकों का 12 वर्षों तक निर्वाह हो सकता था। यह सब धन भामाशाह का अपना पैतृक एवं स्वयं उपार्जित किया हुआ था। इस अप्रतिम उदारता एवं अप्रत्याशित सहायता पर राणा ने हर्ष विभोर होकर भामाशाह को गले लगा लिया। वे दुगुने उत्साह से सेना जुटाने और मुगलों को देश से बाहर करने में जुट गए।

अनेक युद्ध लड़े गए, जिसमें वीर भामाशाह और ताराचन्द्र ने भी प्राय: बराबरी से भाग लिया। इन दोनों भाईयों ने मालवा पर जो मुगलों के आधीन था, चढ़ाई करके 25 लाख रुपये और 20 हजार अशर्फियाँ दण्ड स्वरूप प्राप्त कर राणा को समर्पित कीं और राज्य के गाँव-गाँव में प्राणों का संचार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि मेवाड़ी वीरों की रणभेरी से मुगल-सैनिकों के पैर उखड़ने लगे और 1586 ई. तक चित्तौड़ और माण्डवगढ़ को छोड़कर, सम्पूर्ण मेवाड़ पर राणा का पुन: अधिकार हो गया।

अपनी इस उदार और अपूर्व सफलता के कारण भामाशाह, मेवाड़ का उद्धारकर्ता कहलाया। मेवाड़ प्रतिष्ठा के पुन: स्थापक, स्वार्थ-त्यागी, वीर श्रेष्ठ एवं मन्त्रीप्रवर भामाशाह का जन्म सोमवार, 28 जून, 1547 ई. को हुआ था और निधन लगभग 52 वर्ष की आयु में 27 जनवरी, 1600 ई. में हुआ था। जीवाशाह, भामाशाह का सुयोग्य पुत्र था। उदयपुर में भामाशाह की समाधि, अभी भी विद्यमान है। इस नररत्न ने एक सच्चे जैन के उपयुक्त आचरण द्वारा स्वधर्म, स्वसमाज एवं स्वदेश को गौरवान्वित किया।

पाठ 9

स्वरूपाचरण चारित्र

'चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै है।' – ऐसा छहढालाजी नामक शास्त्र में लिखा है। भावार्थ यह है कि संयम से रहित जीव के भी सम्यग्दर्शनमात्र से पूज्यपना / श्रेष्ठपना कहा गया है। सम्यग्दृष्टि के देशसंयम (देशचारित्र) अथवा सकलसंयम (सकलचारित्र) होना अनिवार्य नहीं है; हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। सिद्धान्त ग्रन्थों में भी चौथे गुणस्थानवर्ती जीव को अविरत सम्यग्दृष्टि (असंयतसम्यग्दृष्टि) नाम प्राप्त है। श्रमण चारित्रवन्त होते हैं, ऐसा उल्लेख तो जगह-जगह मिलता है। ऐसे में सामान्यजनों को यह शंका उठती है कि 'क्या चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के चारित्र होता है?' इसी शंका के निराकरण हेतु इस पाठ का अवतरण हो रहा है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः – ऐसा तत्त्वार्थसूत्र के पहले अध्याय का सूत्र है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की एकता, मोक्षमार्ग है। आगम (तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं) में, तीनों की एकता प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान से लेकर अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थानपर्यन्त, मुनिराजों के कही गयी है; अतः मुनिपना कहो या मोक्षमार्ग कहो – ये दोनों शब्द एकार्थवाची हैं। ऐसे में, यह शंका हो सकती है कि, 'फिर अव्रती सम्यग्दृष्टि के चारित्र का अभाव होने से, उसके मोक्षमार्ग का भी लोप होगा?' परन्तु यह भी ध्यान देने लायक बात है कि ग्रन्थों में, खुलकर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव (अव्रतसम्यग्दृष्टि) को मोक्षमार्गी कहा गया है। श्रावकाचार ग्रन्थों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचार के 33वें श्लोक में लिखा है–

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥

अर्थ – निर्मोही (मोक्षमार्गस्थ) गृहस्थ, मोही मुनि से उत्कृष्ट है।

छहढाला में भी दौलतरामजी लिखते हैं –

'....जघन कहे अविरत समदृष्टि, तीनों शिवमगचारी'

अर्थात् जघन्य अन्तरात्मा, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि जीव है और उत्तम तथा मध्यम अन्तरात्मा की तरह, यह भी मोक्षमार्गी है। इससे यह बात, भलीभाँति फलित होती है कि

अविरतसम्यग्दृष्टि के भी चारित्र है, उसके बिना मोक्षमार्ग कहना असम्भव होगा। अब प्रश्न यह है कि चौथे गुणस्थान में चारित्र होने और न होने का क्या रहस्य है ? इसका समन्वय कैसे बनेगा ?

समाधान की प्राप्ति के लिए सर्व प्रथम, हम चारित्र का स्वरूप देखते हैं। प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं –

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥7॥

अर्थ – चारित्र वास्तव में धर्म है। जो धर्म है, वह साम्य है, ऐसा शास्त्र में कहा है। साम्य, मोहक्षोभरहित ऐसा आत्मा का परिणाम (भाव) है।

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी, स्वरूप में रमण करने को, स्वसमय (आत्मस्वभाव) में प्रवृत्ति करने को चारित्र कहते हैं। **आचार्य की दृष्टि में स्वरूपाचरण तो चारित्र का स्वरूप है, जो चारित्र के समस्त भेदों में हीनाधिकरूप से व्याप्त है।**

अन्य अनन्त गुणों के समान, चारित्र भी आत्मा का एक गुण है। '**सर्वगुणांश ते सम्यक्त्व**' के न्याय से सम्यग्दर्शन होते ही समस्त गुणों का सम्यक (स्वभावरूप / निर्मल) परिणमन होता है। ऐसे में चारित्रगुण की पर्याय को कदापि मिथ्या नहीं कहा जा सकता। चारित्रगुण, सम्यक्रूप ही परिणमेगा। जितनी मात्रा में चारित्रमोहनीय सम्बन्धी मलिनता हटी है, उतनी मात्रा में चारित्र का निर्मल परिणमन होता है और वह चारित्र भी, स्वरूपाचरणरूप ही होता है।

चतुर्थ गुणस्थान में चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी का अनुदय हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण (देशचारित्र की घातक), प्रत्याख्यानावरण (सकल-चारित्र की घातक) और संज्वलन (यथाख्यातचारित्र की घातक), इन तीन कषाय चौकड़ियों का उदय रहता है। अनन्तानुबन्धी की परिभाषा करते समय वीरसेनस्वामी लिखते हैं –

जो क्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यग्दर्शन व **सम्यक्चारित्र का विनाश** करते हैं तथा जो अनन्त भव के अनुबन्धन स्वभाववाले होते हैं, वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। **(धवल, 13/360)**

इसी बात को इस युग के प्रकाण्ड विद्वान गुरु गोपालदास बरैया ने जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में प्रश्न डालकर पुष्ट किया है।

प्रश्न 160 – अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ किन्हें कहते हैं ?

समाधान – जो कर्म, आत्मा के स्वरूपाचरणचारित्र परिणाम को घातते हैं, उन्हें अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ कहते हैं।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी भी मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ 12 पर लिखते हैं – '...तथा इस मिथ्याचारित्र में, स्वरूपाचरणचारित्र का अभाव है; इसलिए इसका नाम अचारित्र भी कहा जाता है।.....'

अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि छहढालाजी में तो दौलतरामजी छठवीं ढाल में मुनिवर के अट्ठाईस मूलगुणों का सांगोपांग निरूपण करने के उपरान्त, सातवें छन्द में लिखते हैं '**.....यो है सकलसंयमचरित, सुनिए स्वरूपाचरण अब**' – इससे अज्ञानी, नय-विवक्षा को नहीं समझता हुआ कहता है कि छठवें गुणस्थान में तो अट्ठाईस मूलगुणों (सकल- संयमचारित्र) का पालन होता है और इसके बाद सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग की दशा में, स्वरूपाचरणचारित्र होता है।

इसका समाधान, स्वयं दौलतरामजी आगे स्वरूपाचरणचारित्र (शुद्धोपयोग) का स्वरूप बताकर करते हैं।

जहँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को, न विकल्प वच-भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध-उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत-ये तीन धा एकै लसा।

(छहढाला, छठवीं ढाल, पद्य-9)

इससे यह स्पष्ट ख्याल में आता है कि यहाँ किसी गुणस्थान-विशेष की बात नहीं है; यह तो आत्मानुभवन अर्थात् निर्विकल्पदशा (शुद्धोपयोग) का वर्णन है। प्रचुर शुद्धोपयोग तो सातवें गुणस्थान तथा उसके आगे होता है; परन्तु अल्प काल के लिए यह शुद्धोपयोग की दशा, चौथे तथा पंचम गुणस्थान में भी होती है।

अरे भाई! आत्मानुभूति में ही तो सम्यग्दर्शन का जन्म होता है। निर्विकल्पावस्था जाने पर, विकल्प की भूमिका में साधक जीव, पुण्यभाव करें अथवा पापभाव, सम्यग्दर्शन बरकरार रह सकता है। जिस प्रकार आम्र के वन में एक-दो नीम के पौधे होने पर भी, उसे आम्रवन ही कहा जाता है; उसी प्रकार चौथे, पाँचवें गुणस्थान में बहुत अन्तराल के बाद, अल्पकाल के लिए शुद्धोपयोग होता है; इसीलिए उसको गौण करके, विधान नहीं किया जाता।

जिनागम में जगह-जगह यह शैली हमें देखने में आती है। जैसे – नोकषाय को अकषाय, नोइन्द्रिय (मन) को अनिन्द्रिय भी कहते हैं। किंचित् को गौण करके बात करने की पद्धति लोक में भी है। जैसे – निर्धन का अर्थ गरीब होता है। निर्धन का अर्थ, 'जिसके पास एक भी पैसा नहीं हो' – ऐसा नहीं किया जाता। अणुव्रती तथा महाव्रती का चारित्र, जैसे खुलकर दिखता है, ऐसा अव्रतीसम्यग्दृष्टि का, बाहर से, कुछ भी देखने में नहीं आता। इन कारणों से चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र का कथन, आगम में नहीं है।

समस्त आपत्तियों का निराकरण करने हेतु हम, मोक्षमार्गप्रकाशक की शरण लेते हैं।

यहाँ यह प्रश्न है कि अनन्तानुबन्धी भी, चारित्र ही का घात करती है, तो इसके जाने पर कुछ चारित्र हुआ कहो; असंयतगुणस्थान में, असंयम किसलिए कहते हो ?

उसका समाधान – अनन्तानुबन्धी आदि भेद हैं, वे तीव्र-मन्द कषाय की अपेक्षा नहीं हैं; क्योंकि मिथ्यादृष्टि के तीव्रकषाय होने पर व मन्दकषाय होने पर, अनन्तानुबन्धी आदि चारों का उदय युगपत् होता है। वहाँ चारों के उत्कृष्ट स्पर्धक, समान कहे हैं।

इतना विशेष है कि अनन्तानुबन्धी के साथ जैसा तीव्र उदय, अप्रत्याख्यानादि का हो, वैसा उसके जाने पर नहीं होता; इसी प्रकार अप्रत्याख्यान के साथ जैसा प्रत्याख्यान-संज्वलन का उदय हो, वैसा उसके जाने पर नहीं होता। तथा जैसा प्रत्याख्यान के साथ संज्वलन का उदय हो, वैसा केवल संज्वलन का उदय नहीं होता; इसलिए अनन्तानुबन्धी के जाने पर, कषायों की कुछ मन्दता तो होती है; परन्तु ऐसी मन्दता नहीं होती, जिसमें कोई चारित्र नाम प्राप्त करे; क्योंकि कषायों के असंख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं, उनमें सर्वत्र पूर्वस्थान से, उत्तरस्थान में मन्दता पायी जाती है; परन्तु व्यवहार से, उन स्थानों में तीन मर्यादाएँ कीं हैं। आदि के बहुत स्थान तो असंयमरूप कहे, फिर कितने ही देशसंयमरूप कहे, फिर कितने ही सकलसंयमरूप कहे। उनमें प्रथम गुणस्थान से लेकर, चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त जो कषाय के स्थान होते हैं, वे सर्व असंयम ही के होते हैं; इसलिए कषायों की मन्दता होने पर भी, चारित्र नाम नहीं पाते हैं।

यद्यपि परमार्थ से कषाय का घटना, चारित्र का अंश है; तथापि व्यवहार से जहाँ ऐसा कषायों का घटना हो, जिससे श्रावकधर्म या मुनिधर्म का अंगीकार हो, वही चारित्र नाम पाता है। सो असंयत में कषायें ऐसे घटती नहीं हैं; इसलिए यहाँ असंयम कहा है। कषायों का अधिक-हीनपना होने पर भी, जिस प्रकार प्रमत्तादि गुणस्थानों में, सर्वत्र सकलसंयम ही नाम पाता है; उसी प्रकार मिथ्यात्वादि असंयतपर्यन्त गुणस्थानों में, असंयम नाम पाता है। सर्वत्र असंयम की समानता नहीं जानना। *(पृष्ठ 336-337)*

सिद्धान्तग्रन्थों में, चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र का विधान नहीं होने का सीधा कारण यह है कि पहले चार गुणस्थानों को दर्शनमोह की ही तरफ से देखने की आज्ञा है। पाँचवें से बारहवें गुणस्थान तक चारित्र-मोहनीय की तरफ से देखने की आज्ञा है। तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान को योग की तरफ से देखने की आज्ञा है; अत: प्रथम चारों गुणस्थानों में अचारित्र कहा जाता है।

सरलता से समझने के लिए, हम तालिका बनाते हैं –

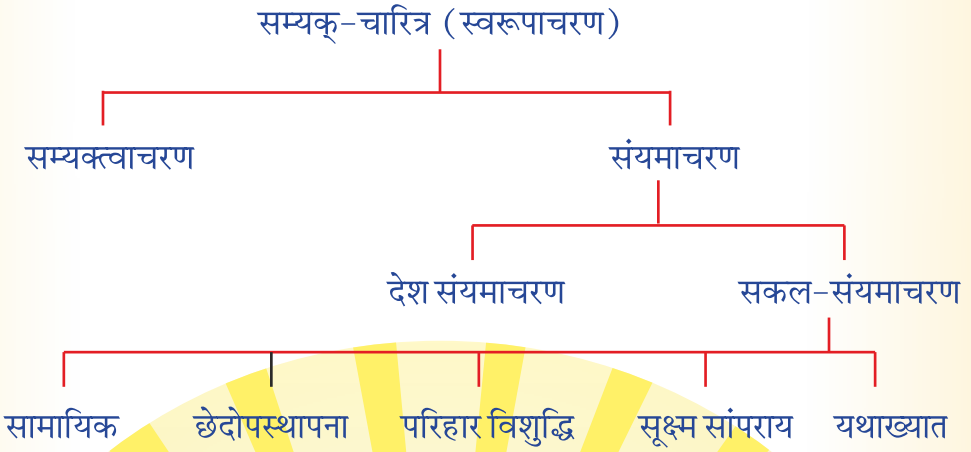

कुन्दकुन्दाचार्यदेव, चारित्रपाहुड़ की पाँचवीं गाथा में, दो प्रकार के चारित्र बताते हैं। प्रथम तो सम्यक्त्व के आचरणस्वरूप चारित्र है और दूसरा संयम के आचरणस्वरूप चारित्र है।

जिणणाणदिट्ठि सुद्धं, पढ़मं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि॥

अब, एक और शंका उत्पन्न हो सकती है कि क्या तीसरे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से, वहाँ भी चारित्र, सम्यक् हो जाएगा? परन्तु भाई, सम्यग्दर्शन के बिना, ज्ञान तथा चारित्र के सम्यक् होने का सवाल ही उत्पन्न नहीं होता; इसीलिए यह शंका भी निर्मूल हो जाती है।

इस पाठ से, यह बात भलीभाँति प्रतिफलित होती है कि आध्यात्मिक विवक्षा से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव, मोक्षमार्गी है; अतः उसके श्रद्धा और ज्ञान के साथ-साथ स्वरूपाचरणचारित्र भी प्रगट हुआ है। अरे भाई, अध्यात्म में अव्रती सम्यग्दृष्टि का मुक्त, जिनेन्द्र आदि की उपाधियों से भी अभिनन्दन किया गया है।

प्रश्न -

1. मोक्षमार्ग क्या है? इसका आरंभ कहाँ से होता है, साधार बताएँ।
2. स्वरूपाचरणचारित्र क्या है? क्या किसी ग्रंथ में इसका उल्लेख है?
3. चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र होने संबंधी, पण्डित टोडरमलजी का कथन लिखें।

लोकद्वयहितं चापि सुकरं वस्तु नासताम्।
लवणाब्धिगतं हि स्यान्नादेयं विफलं जलम्॥10॥

अर्थात् - नदियों का मधुर जल भी जैसे लवणसमुद्र में जाकर खारा हो जाता है, पीने के योग्य नहीं रहता। वैसे ही दुर्जन मनुष्यों के इहलोक-परलोक के हितकर उत्तम पदार्थ भी निष्फल हो जाते हैं। अतः दुर्जनों को दान में दिया हुआ धन, निरर्थक ही जाता है। **(क्षत्रचूड़ामणि, तीसरा लम्ब)**

पाठ 10

सल्लेखना

जीवन जीने की कला के सम्बन्ध में सभी विचारकों ने अपने विचार रखे हैं; किन्तु मरण को भी स्वागतयोग्य यदि किसी ने माना है और उसके बारे में कुछ विधान प्रस्तुत किया है, तो वह एकमात्र जैनदर्शन ही है। टूटी-फूटी कुटिया को तथा उसके प्रति चिरकाल से संचित मोह को ठोकर मारकर, जिस प्रकार कोई लड़की, नवीन घर तथा उसके प्रति अपनत्व को अंगीकार करने के लिए विवाह को मांगलिक कार्य समझकर प्रतिपल प्रसन्न रहती है; ठीक उसी प्रकार कोई ज्ञानी साधक, जो चिरकाल से बँधा हुआ था, वह इस अशुचि पिंजरे (शरीर) को छोड़कर, मोक्षमहल में जाने हेतु मृत्यु को महोत्सव समझता है। कर्जा लेकर, पश्चात् सम्पन्न हुआ व्यक्ति, साहूकार को दरवाजे पर आता देखकर, उससे दूर नहीं भागता। साहूकार को उपकारी जानकर, कर्ज को चुकाने के लिए उद्यत होता है, हाथ में पोटली को लिए हुए दरवाजे पर खड़ा रहता है; उसी प्रकार मरण को आता देखकर साधक जीव निर्भीक होकर, पराई पूँजी लौटाने में उद्यत होता है। ज्ञानी मरता नहीं, क्योंकि उसने अमरत्व की प्राप्ति की है। 'मृत्योर्मा अमृतं गमय' आइए, हम सभी अमरत्व की ओर बढ़ें।

होनहार **मङ्गलार्थियो**! जन्म और मरण, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दिवस के उपरान्त रात्रि का होना, जिस प्रकार अवश्यम्भावी है; उसी प्रकार जन्म के उपरान्त मरण अवश्यम्भावी है। कालिदास ने कहा है '**मरणं प्रकृतिः शरीरिणां**' अर्थात् शरीरधारी संसारी प्राणियों का मरना, स्वभाव है। गोम्मटसार में '**शीर्यन्ते इति शरीरः**' कहकर टीकाकार आचार्य कहते हैं कि जो जीर्ण-शीर्ण हो, उसे शरीर कहते हैं। जन्म से लेकर मरण तक एकक्षेत्रावगाहरूप से रहे इस अभिन्न साथी पर जरा-सी आँच आने पर हड़बड़ानेवाले अज्ञानियों का इस साथी के वियोग के काल में शोकमग्न होना, आर्तध्यान होना, दुःखसंतप्त होना, स्वाभाविक है। '**जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्**' ऐसा तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय के बारहवें सूत्र में लिखकर, काय के नश्वरस्वभाव की तरफ संकेत करके, आचार्यदेव हमें शरीर की नश्वरता के ज्ञान के फलस्वरूप वैराग्य उपजाने की प्रेरणा देते हैं। हमें वैराग्य में कारणभूत जो -जो प्रसंग हैं, वे सब प्रसंग अज्ञानी को अज्ञान के कारण, दुःख तथा राग-द्वेष में निमित्त बनते हैं।

हम अपने घर को विश्रामस्थल मानकर, प्रतिपल उसकी देखभाल करते हैं, समय-समय पर उसके मजबूतीकरण के लिए मरम्मत आदि कराते हैं। यदि हमारे घर को कदाचित् आग लग जाए, तो हम घर की सुरक्षा हेतु पराकाष्ठा का प्रयास करते हैं; परन्तु आग बढ़ती देखकर तथा हमारा भी बचना

मुश्किल जानकर, हम घर को उसकी हालत पर छोड़कर, बाहर निकल आते हैं। यह हमारी कायरता तथा पलायनवाद नहीं, वरन् विवेक से अपनाई समय-सूचकता ही है। हाँ! घर में मामूली चिनगारी दिखते ही हम उसे बुझाने का भरसक प्रयास करते हैं। यदि चिनगारीमात्र को देखकर, हम तुरन्त घर छोड़ भागते हैं, तो वह हमारी मूर्खता तथा कायरता की सूचक ही होगी।

साधक जीव, **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'** तथा **'काया राखे धर्म'** को जानकर, जीवनभर शरीर को तन्दुरुस्त रखने का प्रयास करते हैं; क्योंकि संयम, तप आदि अनुष्ठान तभी सम्भव हैं जब देह निरोगी तथा पुष्ट हो। छहढाला में दौलतरामजी कहते हैं –

'लें तप बढावन हेत नहिं तन पोषते तजि रसन को।'

इसी कारण अन्न को ग्यारहवाँ प्राण भी कहा गया है। कोई बीमारी होने पर, ज्ञानी शुद्धौषधी से उसका प्रतिकार भी करता है। नाना प्रयास करने के बावजूद भी यदि सभी औषधियाँ निष्फल रहें तथा रोग को असाध्य जानकर, उसका प्रतिकार करना असम्भव होने पर, साधक, सल्लेखना का मार्ग अपनाता है। **'रत्नकरण्ड श्रावकाचार'** में दिग्गज आचार्य समन्तभद्र, सल्लेखना लेने के काल तथा स्वरूप की चर्चा करते हुए लिखते हैं –

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥22॥

उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा; जिसका प्रतिकार न हो सके, ऐसा रोग, इनमें से किसी परिस्थिति को खड़ी देखकर, मरण को सामने देखकर, धर्म की प्रवृत्ति तथा वृद्धि के लिए क्षपक, देह के त्याग के लिए कटिबद्ध हो जाता है, ऐसे प्रसंग को सल्लेखना कहते हैं।

साधक, जीवन भर कषाय को क्षीण करने हेतु प्रयासरत ही है; परन्तु मरण को पास देखकर, देह को भी कृश

करने का प्रयास करता है। देह को कृश करने के लिए वैज्ञानिक तथा आर्षसम्मत ढंग से, आहार का क्रमशः त्याग कर देता है। आहारादि के त्याग के निमित्त से साधक का बाहर से राग विशेषरूप से हटता जाता है। वह अन्तर्मुखता की ओर बढ़ने लगता है। औरों से शरीर की टहल (सेवा) कराना बन्द करके **(इंगिनी मरण)**, आगे चलकर स्वयं भी अपने हाथों से टहल नहीं करता **(प्रायोपगमन मरण)**; आहार-औषधि-सेवा के त्याग का क्रम अन्तर्मुहूर्त से लेकर बारह वर्ष (मरण पूर्व) तक चलता रह सकता है। इसे **भक्त प्रत्याख्यान** या **भक्त प्रतिज्ञा** कहते हैं। **सल्लेखना को संथारा, समाधि-मरण आदि भी कहते हैं। वैदिक परम्परा में इसे प्रायोपवेशन कहते हैं।**

सम्यक् प्रकार से कषाय तथा काय को क्षीण करना, सल्लेखना है - ऐसा पूज्यपादस्वामी कहते हैं। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय के बाईसवें सूत्र में **'मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता'** लिखा है अर्थात् मरणकाल में अन्तिम समय निकट आने पर, विधिपूर्वक **सोत्साह** सल्लेखना का आयोजन करना चाहिए। जैसे-तैसे भावुकता में आकर क्षपक को गम्भीर तथा गुरुतर पद अंगीकार नहीं कराया जा सकता।

सल्लेखना, आत्मघात नहीं; आत्मोद्धार की प्रक्रिया है। जीवनभर पाले हुए व्रतरूपी मन्दिर पर चढ़ाया गया कलश है। सल्लेखना में भी मरने की इच्छा करना, वेदना आदि से व्याकुल होकर जल्दी मरने की इच्छा करना निषिद्ध है, दोष है, अतिचार है। तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय के 37वें सूत्र में सल्लेखना के पाँच अतिचारों को बताया गया है -

जीवित-मरणाशंसामित्रानुराग-सुखानुबन्धनिदानानि।

लम्बे जीवन की तथा शीघ्र मरण की चाह, बचपन के मित्रों का तथा जीवन में भोगे गए सुखों का स्मरण और सल्लेखना के फलस्वरूप सांसारिक भोगों की अगले भव में इच्छा करना - इन पाँच अतिचारों से रहित सल्लेखना होती है।

प्रायः संसारी, मोही प्राणियों से घिरे रहने पर छद्मस्थ प्राणी का मन भी मोह-ममता से ग्रस्त हो सकता है; इसीलिए किसी विवेकी पुरुष ने कहा है कि **'मरनो भलौ विदेश को, जहाँ न अपना कोई'** अर्थात् ऐसे स्थान पर प्राण प्रयाण के अवसर पर जाना, जहाँ अपना कोई न हो।

जैनधर्म में आत्महत्या को तो महापाप माना है; इसीलिए **जैनधर्म में सती होना महापाप माना गया है।** अग्नि में जलना, पर्वत से गिरना आदि को लोकमूढ़ता मिथ्यात्व माना है। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ के पृष्ठ 190 पर लिखते हैं -

'तथा कितने ही, इस लोक में दुःख सहन न होने से व परलोक में इष्ट की इच्छा व अपनी पूजा बढ़ाने के अर्थ व किसी क्रोधादि से अपघात (आत्महत्या) करते हैं। जैसे - पतिवियोग से अग्नि में जलकर, सती कहलाती है व हिमालय में गलते हैं, काशी में करौंत लेते हैं, जीवित मरण लेते हैं, इत्यादि

कार्यों से धर्म मानते हैं; परन्तु **अपघात तो महान पाप है। यदि शरीरादि से अनुराग घटा था, तो तपश्चरणादि करना था; मर जाने में धर्म का कौन-सा अंग हुआ ? इसलिए अपघात करना, कुधर्म है।'**

हिन्दू शास्त्रों में भी सल्लेखना के पोषक प्रकरण हैं। **मनुस्मृति** के अध्याय 6में वानप्रस्थी के सम्बन्ध में लिखा है कि - ईशान दिशा को प्राप्त होकर सरल गति से गमन करे और शरीर त्याग पर्यन्त केवल जल-वायु खाकर रहे।

इतिहास में देखें, तो राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी एवं आचार्य विनोबा भावे आदि महापुरुषों ने सल्लेखना का खुलकर समर्थन किया था। विनोबाजी ने तो सल्लेखना को अपने जीवन में अपनाया था। जब विनोबाजी ने सल्लेखना लेनी चाही, तो कुछ लोगों को लगा कि विनोबाजी आत्महत्या कर रहे हैं। इसको लेकर वर्धा के श्री गोपीचन्द वालेचा ने हाईकोर्ट में याचिका दाखिल कर दी कि विनोबाजी को आत्महत्या से रोका जाए।

हाईकोर्ट ने याचिका इस आधार पर खारिज कर दी कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। उसी समय, भारत की प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी ने वर्धा आकर विनोबाजी से जल ग्रहण करने का अनुरोध किया। विनोबाजी ने इन्दिराजी को ही भगवान का जाप करने का अनुरोध किया और आखिर महावीर भगवान के निर्वाण दिवस पर विनोबाजी ने समताभाव से देहत्याग किया।

सल्लेखना, जीवन भर की साधना का फल है। मरण को सुधारने का उपाय, जीवन को सुधारना है। जीवन को तत्त्वज्ञान तथा संयम से सम्पोषित तथा आभूषित किए बिना, सल्लेखना की भावना अजा-गल-स्तनवत् निष्फल है। 'अन्त भला, सो सब भला' का फलितार्थ करने के लिए, आइए, हम स्वयं पर, तत्त्वाभ्यास के गहरे संस्कार डालें।

प्रश्न -

1. सल्लेखना की परिभाषा साधार लिखें।
2. सल्लेखना के बारे में अन्यमतों का क्या कहना है ?
3. सल्लेखना और आत्मघात में अंतर स्पष्ट करें।
4. सल्लेखना के अतिचार लिखें।

तृणं लघु तृणात्तूलं तुलादपि च याचकः
वायुना किं जीतोऽसौ मामयं याचयिष्यति ॥15॥

अर्थात् - तृण (तिनका) हल्का होता है। तृण से कपास हल्का होता है। कपास से याचक हल्का होता है। ऐसा होते हुए भी वायु, याचक को क्यों उड़ा नहीं ले जाती ? क्योंकि वायु को डर है कि कहीं याचक उससे कुछ याचना न कर बैठे।

(चाणक्य नीति, अध्याय 16)

समाधिमरण पाठ

— कवि श्री शिवलालजी

परम पंच परमेष्ठी का ध्यान धर,
परमब्रह्म का रूप आया नजर।
परमब्रह्म की मुझको आई परख,
हुआ उर में संन्यास का जब हरष ॥1॥

लगन आत्मा राम सों लग गई,
मेरी मोह निद्रा सभी भग गई।
लगी दृष्टि चेतन चिद्रूप पर,
टिकी ब्रह्म के ज्ञान के रूप पर ॥2॥

परमब्रह्म की अब रटारट मेरे,
निजानन्द रस की गटागट मेरे।
यहाँ आज रोने का क्या शोर है,
मेरे हर्ष-आनन्द का जोर है ॥3॥

निरंजन की कथनी सुनाओ मुझे,
नहीं और बतियाँ[1] बताओ मुझे।
न रोओ मेरे पास इस वक्त में,
मैं तिष्ठा हूँ खुशहाल खुश वक्त में ॥4॥

जरा रोने का अब तअम्मुल[2] करो,
नजर मेहरबानी की मुझ पर धरो।
उठो अब मेरे पास से सब कुटुम्ब,
तजो मोह मिथ्यात का भय विडम्ब[3] ॥5॥

जरा आत्मा भाव उर आने दो,
परम ब्रह्म की लय मुझे ध्याने दो।
मुझे ब्रह्मचर्चा से वर्ते हुलाश[4],
करो और चर्चा न कुछ मेरे पास ॥6॥

1. बातें 2. अन्त 3. विडम्बना 4. हर्ष

जो भावे तुम्हें सो न भावे मुझे,
न झगड़ा जगत का सुहावे मुझे।
ये काया पे पुटकी[1] पड़ी मौत की,
याद आई है शिवलोक के नाथ की ॥7॥

यह देह चिरकाल से है मुई,[2]
मेरी जिन्दगानी से जिन्दा भई।
तजा हमने नफरत से यह मुर्दा आज,
चलो यार चलकर करें मुक्तिराज ॥8॥

जिसम झोपड़ी को लगी आग जब,
हुई मेरे वैराग्य की जाग तब।
संभाले ये अपने रतन मैंने तीन,
लिया अपने आपको मैं आप चीन्ह ॥9॥

जिसे मौत है उसको मुझको है क्या?
मुझे तो नहीं फिर भय मुझको क्या?
मेरा नाम तो जीव है जीव हूँ,
चिरंजीव चिरकाल चिरंजीव हूँ ॥10॥

अखंडित अमंडित अरूपी अलख,
अदेही अगेही[3] अनेही[4] निरख।
परम ब्रह्मचर्य परम शान्तितम,
निरालोक लोकेश लोकोत्तम ॥11॥

परमज्योति परमेश परमात्मा,
परमशुद्ध परमसिद्ध शुद्धात्मा।
चिदानन्द चैतन्य चिद्रूप हूँ,
निरंजन निराकार शिवभूप हूँ ॥12॥

ये देह तज कर चले आज हम,
चिता में धरो इसको ले जाके तुम।

1. आपत्ति 2. मरी हुई 3. घर-गृहस्थी से रहित 4. स्नेह से रहित

कहीं जाओ यह देह क्या इससे काम,
तजी इससे रगवत[1] मोहब्बत तमाम ॥13॥

मुवे संग रहकर बहुत कुछ मुये,
मगर आज निरगुण निरंजन भये।
मिली आज संन्यास की यह घड़ी,
मेरे हाथ आई ये अद्भुत जड़ी ॥14॥

विषयविष से निर्विष हुआ आज मैं,
चलाचल से निश्चल हुआ आज मैं।
परम भाव अमृत पिया आज मैं,
नर भव का लाहा[2] लिया आज मैं ॥15॥

घटा आत्म उपयोग की आई झूम,
अजब तुर्फ तुरियाँ बनी रंगभूमि[3]।
शुक्लध्यान टाली की टंकोर है,
निजानन्द झांझन की झंकोर है ॥16॥

अजर हूँ अमर हूँ न मरता कभी,
चिदानन्द शाश्वत् न डरता कभी।
कि संसार के जीव मरते डरें,
परम पद का 'शिवलाल' वन्दन करें ॥17॥

विचारों पर हिंसा की छाया

जानता नहीं कि तू मेरा नौकर है ? मुफ्त में काम नहीं करता। मेरी आज्ञा मानना ही तेरा काम है। जरा रोटियों की निभाने का ध्यान रख।

आपको मालूम नहीं कि यह मंदिर मैंने अथवा मेरे बाप-दादों ने बनवाया है। मैं जिसे चाहूँ आने दूँ, न चाहूँ न आने दूँ। आपको इससे क्या ?

विचारों पर अहिंसा का प्रकाश

तुम सबकी मेहनत से मैं आराम उठाता हूँ और बदले में क्या देता हूँ ? तुम सबका मुझ पर ऐसा ही प्रेम बना रहे, यही मेरी इच्छा है। कोई तकलीफ हो तो अपना ही घर समझकर अवश्य कहना।

भाई ! मंदिर तो हम सबके कल्याण की जगह है। मेरा इसमें क्या है ? आप सभी को इसकी व्यवस्था करनी है। इसके निमित्त से मुझे आप सभी का धर्मसाधन में सहयोग मिलता रहे तो अपने को धन्य समझूँ।

1. लगाव, 2. फल, 3. विचित्र समस्याएँ भी रंगभूमि बन गईं।

महावीर वन्दना

जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर हैं।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी, ध्यान धारण धीर हैं॥

जो तरण-तारण, भव-निवारण, भव जलधि के तीर हैं।
वे वंदनीय जिनेश, तीर्थंकर स्वयं महावीर हैं॥

जो राग-द्वेष विकार वर्जित, लीन आतम ध्यान में।
जिनके विराट विशाल निर्मल, अचल केवलज्ञान में॥

युगपद् विशद सकलार्थ झलकें, ध्वनित हों व्याख्यान में।
वे वर्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में॥

जिनका परम पावन चरित, जलनिधि समान अपार है।
जिनके गुणों के कथन में, गणधर न पावें पार है॥

बस वीतराग-विज्ञान ही, जिनके कथन का सार है।
उन सर्वदर्शी सन्मती को, वन्दना शत बार है॥

जिनके विमल उपदेश में सबके उदय की बात है।
समभाव समताभाव जिनका, जगत में विख्यात है॥

जिनने बताया जगत को, प्रत्येक कण स्वाधीन है।
कर्ता न धर्ता कोई है, अणु-अणु स्वयं में लीन है॥

आतम बने परमातमा, हो शान्ति सारे देश में।
है देशना सर्वोदयी, महावीर के सन्देश में॥

(—डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल)

श्रवणबेलगोला (मैसूर) में स्थित बाहुबली की प्रशांत तथा नग्न मूर्ति देखकर काका कालेलकर लिखते हैं —

सांसारिक शिष्टाचार में आसक्त हम इस मूर्ति को देखते ही मन में विचार करते हैं कि मूर्ति नग्न है। हम मन में और समाज में भाँति-भाँति की मैली वस्तुओं का संग्रह करते हैं, परंतु हमें उससे नहीं होती घृणा और नहीं आती है लज्जा। परंतु नग्नता देखकर घबराते हैं और नग्नता में अश्लीलता का अनुभव करते हैं। इसमें सदाचार का द्रोह है और यह लज्जास्पद है। अपनी नग्नता को छिपाने के लिए लोगों ने आत्महत्या भी की है। परंतु क्या नग्नता वस्तुत: अभद्र है, वास्तव में श्री-विहीन है ? ऐसा होता तो प्रकृति को भी इसकी लज्जा आती। पुष्प नग्न रहते हैं, पशु-पक्षी नग्न ही रहते हैं। प्रकृति के साथ जिन्होंने एकता नहीं खोयी है ऐसे बालक भी नग्न ही घूमते हैं। उनको इसकी शरम नहीं आती और उनकी निर्व्याजता के कारण हमें भी इसमें लज्जा जैसा कुछ प्रतीत नहीं होता। लज्जा की बात जाने दें। इसमें किसी प्रकार का अश्लील, बीभत्स, जुगुप्सित, विश्री, अरोचक हमें लगा है, ऐसा किसी भी मनुष्य को अनुभव नहीं। इसका कारण क्या ? कारण यही कि नग्नता प्राकृतिक स्थिति के साथ स्वभाव-सुंदर है। मनुष्य ने विकृत ध्यान करके अपने मन के विकारों को इतना अधिक बढ़ाया है और उन्हें उलटे रास्ते की ओर प्रवृत्त किया है कि स्वभाव-सुंदर नग्नता उसे सहन नहीं होती। दोष नग्नता का नहीं पर अपने कृत्रिम जीवन का है। बीमार मनुष्य के समक्ष परिपक्व फल, पौष्टिक मेवा और सात्त्विक आहार भी स्वतंत्रतापूर्वक रख नहीं सकते। यह दोष उन खाद्य पदार्थों का नहीं, पर मनुष्य के मानसिक रोग का है। नग्नता छिपाने में नग्नता की लज्जा नहीं, पर इसके मूल में विकारी पुरुष के प्रति दया-भाव है, रक्षणवृत्ति है। पर जैसे बालक के सामने नराधम भी सौम्य और निर्मल बन जाता है, वैसे ही पुण्यपुरुषों के सामने, वीतराग-विभूतियों के समक्ष भी वे शांत हो जाते हैं। जहाँ भव्यता है, दिव्यता है, वहाँ भी मनुष्य पराजित होकर विशुद्ध होता है। मूर्तिकार सोचते तो माधवी लता की एक शाखा जंघा के ऊपर से ले जाकर कमर-पर्यंत ले जाते। इस प्रकार नग्नता छिपानी अशक्त नहीं थी। पर फिर तो उन्हें सारी फिलोसोफी की हत्या करनी पड़ती। बालक आपके समक्ष नग्न खड़े रहते हैं। उस समय वे कात्यायनी व्रत करती हुई मूर्तियों के समान अपने हाथों द्वारा अपनी नग्नता नहीं छिपाते। उनकी लज्जाहीनता उनकी नग्नता को पवित्र करती है। उनके लिए दूसरा आवरण किस काम है ?

जब मैं (काका साहब कालेलकर) कारकल के पास गोमटेश्वर की मूर्ति देखने गया, उस समय हम स्त्री, पुरुष, बालक और वृद्ध अनेक थे। हममें से किसी को भी इस मूर्ति का दर्शन करते समय संकोच-जैसा कुछ भी मालूम नहीं हुआ। अस्वाभाविक प्रतीत होने का प्रश्न ही नहीं था। मैंने अनेक मूर्तियाँ देखी हैं और मन विकारी होने के बदले उलटा इन दर्शनों के कारण ही निर्विकारी होने का अनुभव करता है। मैंने ऐसी भी मूर्तियाँ तथा चित्र देखे हैं कि जो वस्त्राभूषण से आच्छादित होने पर भी केवल विकार-प्रेरक और उन्मादक जैसी प्रतीत हुई हैं। केवल एक औपचारिक लंगोट भी नहीं पहननेवाले नग्न साधु अपने समक्ष वैराग्य का वातावरण उपस्थित करते हैं। इसके विपरीत सिर से पैरपर्यंत वस्त्राभूषणों से लदे हुए व्यक्ति आँख के एक इंगित मात्र से अथवा अपने नखरे के थोड़े से इशारे से मनुष्य को अस्वस्थ कर देते हैं, नीचे गिरा देते हैं। अत: हमारी नग्नता-विषयक दृष्टि और हमारा विकारों की ओर सुझाव दोनों बदलने चाहिए। हम विकारों का पोषण करते जाते हैं और विवेक रखना चाहते हैं।

तीर्थधाम चिदायतन

निर्माणाधीन तीर्थधाम चिदायतन के विशाल संकुल में स्थापित,
श्री शान्तिनाथ अस्थायी जिनालय के दर्शन हेतु अवश्य पधारें।

पंजीकृत कार्यालय :
श्री शान्तिनाथ-अकम्पन-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट,
'विमलांचल', हरीनगर, अलीगढ़-202001 (उत्तरप्रदेश) भारत।
Ph: 0571-2410010 / 11 / 12
E-mail: info@mangalayatan.com | www.mangalayatan.com

निर्माण-कार्यालय एवं स्वागत कक्ष :
तीर्थधाम चिदायतन
हस्तिनापुर, मेरठ-250404 (उत्तरप्रदेश) भारत।
Ph: +91 9412749670 E-mail: info@chidayatan.com | www.chidayatan.com

निर्माणस्थल :
तीर्थधाम चिदायतन
दूसरी नसियाँजी से आगे,
हस्तिनापुर, मेरठ-250404 (उत्तरप्रदेश) भारत।
(सम्पर्क : +91 9837079003, श्री मुकेशचन्द जैन, मेरठ)

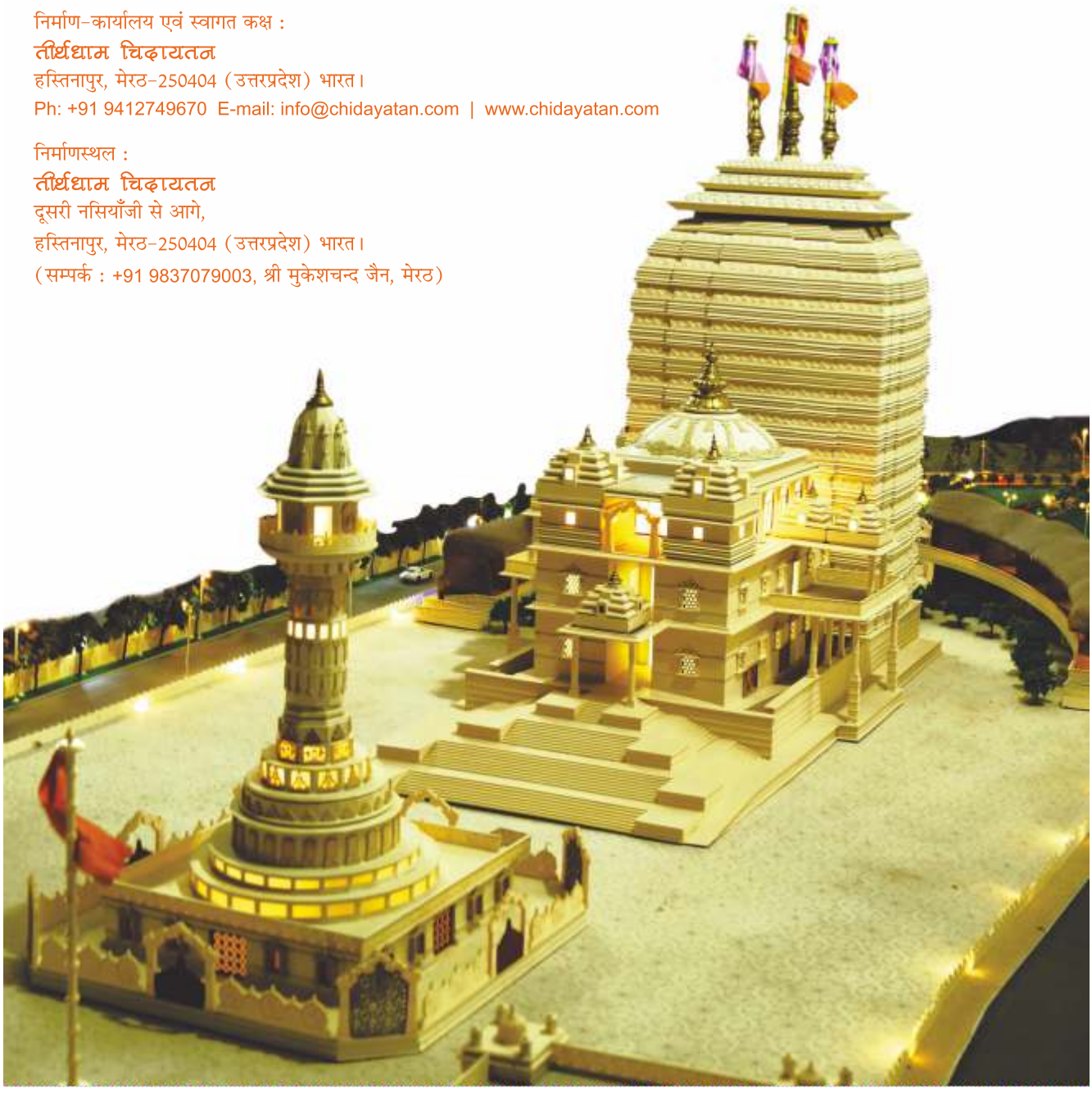

भारत में उत्तरप्रदेश प्रांत की हृदयस्थली अलीगढ़ में निर्मित २१ वीं शती का
विशुद्ध जिनायतन संकुल एवं समाजसेवा का उत्कृष्ट संस्थान

तीर्थ धाम
मङ्गलायतन

प्रमुख दर्शनीय स्थल:

- कृत्रिम कैलाशपर्वत पर भगवान आदिनाथ मन्दिर एवं चौबीस तीर्थंकरों की निर्वाणस्थलियां-
- कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनारगिर, चम्पापुर, पावापुरी एवं सोनागिरी व स्वर्णपुरी सोनगढ़ की विधिपूर्वक स्थापनाओं के दर्शन
- भगवान महावीर मन्दिर
- भगवान बाहुबली मन्दिर
- पंडित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर एवं जिनवाणी संरक्षण केंद्र
- आचार्य समन्तभद्र आत्मचिंतन केंद्र
- धन्य मुनिदशा
- आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप एवं शोध संस्थान
- भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन

मङ्गल प्रकल्प:

email : info@mangalayatan.com
website: www.mangalayatan.com

मूल्य 30/-